पुस्तक-वार्ता

द्वैमासिक समीक्षा पत्रिका

अंक : 36 सितम्बर-अक्टूबर, 2011

संपादक

भारत भारद्वाज

सहायक संपादक

जयपाल सिंह

प्रकाशन प्रभारी

डॉ. बीर पाल सिंह यादव

ज्ञान शांति मैत्री

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा का प्रकाशन

पुस्तक-वार्ता
अंक : 36 सितम्बर-अक्टूबर, 2011

प्रकाशन प्रभारी
डॉ. बीर पाल सिंह यादव
email : bpsjnu@gmail.com
फोन : 07152-232943 मो. : 09272132803

प्रकाशक :
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
पो. मानस मंदिर, गांधी हिल्स, वर्धा (महाराष्ट्र)-442001
फोन : 07152-232200, 230906
तार : हिन्दीविश्व

© संबंधित लेखकों द्वारा
पत्रिका में प्रकाशित विचारों से विश्वविद्यालय और संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।
विवाद की स्थिति में न्यायक्षेत्र वर्धा (महाराष्ट्र)।

एक अंक : ₹ 20
वार्षिक सदस्यता : ₹ 120
चेक/ड्रॉफ्ट कमीशन जोड़कर वार्षिक ₹ 145 और द्वैवार्षिक ₹ 265। म.गां.अं.हिं.वि. का दिल्ली केंद्र अब बंद हो गया है इसलिए पत्रिका प्राप्ति के लिए पाठक अब सीधे वर्धा मुख्यालय से संपर्क करें मनीऑर्डर स्वीकार्य नहीं।

प्रचार प्रसार
श्री दान सिंह नेगी
e-mail : dansnegi@hindivishwa.org
फोन : 07152-232943 मो. : 09665145282

प्रबंध, बिक्री और वितरण केंद्र :
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
पो. मानस मंदिर, गांधी हिल्स, वर्धा (महाराष्ट्र)-442001
फोन : 07152-232200, 232306

संपादकीय संपर्क :
18-बी, ऊना एंक्लेव, मयूर विहार, फेज-I, दिल्ली-110091
e-mail : editor.pustakvarta@gmail.com
मो.-09313034049 (संपादकीय) टेली.-011-4215470

PUSTAK-VARTA
A Bi-monthly journal of Book Reviews in Hindi
Published by Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya,
Post-Manas Mandir, Gandhi Hills, Wardha-442001 (Maharashtra)

छपाई : रुचिका प्रिंटर्स, दिल्ली-110032 (09212796256)

आवरण-स+ा : अशोक सिद्धार्थ

अनुक्रम

संपादकीय	: साहित्य का एक खाली कोना	4
उपन्यास	: **मुहब्बत, फ़न और जिंदगी की तलाश की दास्तान**/ मधुरेश	6
	: **हॉस्टल के पन्नों पर मीडिया**/ विजय शर्मा	10
	: **चलना जीवन का नाम...**/ निरंजन देव शर्मा	12
कहानी	: **रच-रच कर रची गई प्रेम-कहानियां**/ मोहनकृष्ण बोहरा	14
	: **यथार्थ का 'धुआं'**/ मंजु शर्मा	16
	: **स्त्री के मन में अंतर्द्वंद्व की व्यथा-कथा**/ श्रीनिवास त्यागी	18
कविता	: **वीरान में मधुमास के सपने**/ हरदयाल	20
	: **अभी थके नहीं हैं हम**/ वंदना मिश्रा	22
	: **समय के साथ एक सार्थक संवाद**/ विनोद तिवारी	24
	: **दैनंदिन जीवन के अनुभव से उपजी कविताएं**/ क्षमाशंकर पांडेय	26
आलोचना	: **फिर फिर नागार्जुन**/ भारत यायावर	28
	: **यह संचयिता है और सहचर भी**/ रेवती रमण	30
	: **कवि दिनकर की विराट छवि से साक्षात्कार**/ योगेश प्रताप शेखर	33
	: **महत्त्वपूर्ण साहित्यिक विवाद**/ अजित कुमार	35
	: **मैंने अपने टूटेपन को कविता की ममता से जोड़ा**/ कालूलाल कुलमी	37
रंगकर्म	: **रंगपुरुष की रंगयात्रा**/ दीनानाथ	39
सिनेमा	: **सिनेमा का यथार्थ : यथार्थ में सिनेमा**/ अरुण कुमार	41
इतिहास	: **मुअनजोदड़ो का सफर अर्थात् नाचना मोर का**/ भगवान सिंह	43
विमर्श	: **रहस्यमय चुप्पियों के बीच एक यात्रा**/ बलराम	46
व्यंग्य	: **लेखनी की प्रत्यंचा : व्यंग्य के प्रखर बाण**/ ममता कालिया	49
स्त्री-विमर्श	: **समीक्षा के निकष और निकष पर समीक्षा**/ शालीनी माथुर	50
सात समंदर पार	: **अचला शर्मा की कहानी 'चौथी ऋतु' का अंतर्पाठ**/ साधना अग्रवाल	53
प्रतिध्वनि	: **पत्र-प्रतिक्रिया**	55

संपादकीय

साहित्य का एक खाली कोना

प्रेमचंद, आचार्य रामचंद्र शुक्ल और निराला समकालीन लेखक थे और छायावाद-युग में क्रमशः कथा, आलोचना और कविता के शिखर पर थे। महाकवि प्रसाद की 'कामायनी' को भी ध्यान में रखना होगा। जब जनवरी-फरवरी, 1932 ई. में प्रेमचंद ने 'हंस' का आत्मकथा अंक निकाला, पाठकों को यह देखकर हैरानी हुई कि प्रेमचंद के अनुरोध पर प्रसाद ने कविता में अपनी आत्मकथा लिखी, जिसमें 'आँसू' की छाया है। ...आचार्य शुक्ल ने 'प्रेमधन' की 'छाया-स्मृति' संस्मरण लिखा, आचार्य शिवपूजन सहाय ने 'मतवाला' कैसे निकला, लिखा और खुद प्रेमचंद ने कुछ पृष्ठों में अपनी जीवन-रेखाएं खींचीं। यानी प्रेमचंद को छोड़कर अपनी आत्मकथा लिखने से अधिकांश लेखकों ने अपने को बचा लिया। यह भारतीय साहित्य-संस्कृति की विलक्षण परंपरा थी कि लेखक/कवि अपनी आत्मकथा लिखने से बचते थे। शायद इसका एक कारण संकोच और लेखक/कवि की विनम्रता भी रही होगी। बहरहाल, 'हंस' के इस अंक की प्रशंसा कम हुई, इस पर विवाद ज्यादा उठे।

हिंदी के प्रसिद्ध लेखकों में राहुल, उग्र, यशपाल, बच्चन, डा. नगेंद्र, डा. रामस्वरूप चतुर्वेदी और डा. रामविलास शर्मा को छोड़कर शायद ही किसी महत्त्वपूर्ण लेखक ने अपनी आत्मकथा लिखी। डा. नामवर सिंह ने दो किस्तों में अपनी आत्मकथा लिखी, जों 'तद्भव' में छपी, वस्तुतः प्रेमचंद की अतिसंक्षिप्त आत्मकथा की तरह संकेत मात्र है। आत्मकथा की बात तो दूर, हिंदी के महत्त्वपूर्ण लेखकों की जीवनियां भी ठीक से अब तक नहीं लिखी गईं। यह सचमुच चिंता की बात है। हम जानते हैं भारतेंदु हरिश्चंद्र की कई जीवनियां आधी-अधूरी लिखी गई हैं, लेकिन उनके संरक्षक रामदीन सिंह खड्ग, विलास प्रेस, बांकीपुर, पटना की जीवनी अभी लिखना बाकी है।

दिलचस्प बात यह है कि छायावाद के जिन तीन शीर्ष लेखकों का आरंभ में उल्लेख किया गया है, उनमें सबसे पहले आचार्य शुक्ल की संक्षिप्त जीवनी उनके भतीजे चंद्रशेखर शुक्ल ने 'रामचंद्र शुक्ल' शीर्षक से लिखी, जो शुक्ल जी के मृत्युपरांत 1962 ई. में बनारस से छपी। तब इस पुस्तक की कीमत मात्र 8 रु. थी, जिसे कश्मीर के बारामूला प्रवास के दौरान वी.पी.पी. से 80 रु. में मैंने मँगवाया था। संभवतः यह आचार्य शुक्ल जन्मशती का वर्ष था और 'आलोचना' त्रैमासिक ने उन पर एक भव्य अंक निकाला था। जब इस जीवनी की सूचना अपने अग्रज नंदकिशोर नवल को दी तो उन्होंने मुझे आदेश दिया कि अगली छुट्टी में बिहार-यात्रा में तुम मेरे लिए यह पुस्तक लेते आओ। मेरी यह पुस्तक नामवर जी ने रख ली है। इस तरह यह पुस्तक मेरे हाथ से खिसक गई, लेकिन इस पुस्तक को अपने पास रखने की ललक बनी रही।

शुक्ल जी की जीवनी की तो मात्र शुरुआत हुई थी, लेकिन 1962 में अमृत राय ने 'कलम का सिपाही : प्रेमचंद' की जीवनी लिखी, जिसकी भरपूर प्रशंसा ही नहीं हुई, बल्कि उस पर1963 का साहित्य अकादेमी का पुरस्कार भी मिला। डा. रामविलास शर्मा निराला पर लिखने की तैयारी 1946 में प्रकाशित अपनी 'निराला' पुस्तक से ही कर रहे थे। अंततः उनकी पुस्तक 'निराला की साधना' (जीवनी, प्रथम खंड) 1969 में प्रकाशित हुई, जिस पर भी साहित्य अकादेमी का पुरस्कार मिला। अब बच गए आचार्य शुक्ल। ऐसा नहीं है कि उनकी फिर-फिर जीवनी नहीं लिखी गई। लिखी गई, लेकिन बेहद अव्यवस्थित ढंग से। वस्तुतः आचार्य शुक्ल के साथ भारी अन्याय हुआ। इसके कारक प्रकृति और उनके परिजन भी हैं। साहित्य अकादेमी के लिए मलयज उन पर मोनोग्राफ लिख रहे थे। बीच में ही उनका निधन हो गया। फिर भी यह अधूरी पुस्तक 'रामचंद्र शुक्ल' शीर्षक से मलयज के नाम से डा. नामवर सिंह द्वारा संपादित और भूमिका लेखक के रूप में 1987 में प्रकाशित हुई। डा. नामवर सिंह ने 'रामचंद्र शुक्ल ग्रंथावली' संपादित करने की पूरी तैयारी कर ली थी, लेकिन शुक्लजी के परिजनों ने रॉयल्टी की भारी राशि मांग करके इसे अधर में लटका दिया। अंततः रॉयल्टी मुक्त होने पर 'आचार्य रामचंद्र शुक्ल ग्रंथावली' आठ खंडों में ओमप्रकाश सिंह के संपादन में प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली से 2007 में निकली। आचार्य शुक्ल के परिजन मुक्ता और कुसुम चतुर्वेदी द्वारा लिखित पुस्तक 'आचार्य रामचंद्र

शुक्ल' भारत सरकार के प्रकाशन विभाग से 2007 में प्रकाशित हुई, लेकिन इसमें न शुक्लजी का जीवन ठीक से है और न उनके साहित्य का विवेचन।

ऐसा नहीं है कि शुक्ल जी की जीवनी लिखने की कोशिश नहीं की गई है। खूब की गई है और वॉसवेल को आधार बनाकर की गई। चंद्रशेखर शुक्ल द्वारा लिखित शुक्ल जी की जीवनी का पुनर्प्रकाशन स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली से 2009 में हुआ। विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के संपादन में और विष्णुचंद्र शर्मा की प्रस्तुति में। दशकों तक अनुपलब्ध यह अनमोल पुस्तक पाठकों तक फिर पहुंची और मुझ तक भी। मैं सचमुच कृतज्ञ हुआ। अब इस पुस्तक की कीमत ₹ 595 है। शुक्लजी जैसे कालजयी आलोचक की अब यह कीमत है।

इस बीच आचार्य शुक्ल की आलोचना पर लगभग डेढ़ दर्जन से ऊपर पुस्तकें निकलीं—'रामचंद्र शुक्ल के समीक्षा सिद्धांत और गीता रहस्य (समीक्षा आलोचना का अर्थ : अर्थ की आचार्य रामचंद्र शुक्ल (डा. रामचंद्र रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना पक्ष (संपादक—बच्चन सिंह/अवधेश तिवारी), संचयन और ग्रंथावली भी कि हमने उन पर परिश्रमपूर्वक लिखी शुक्ल (डा. राजमल बोरा) को भुला वाराणसी से 2000 ई. में प्रकाशित शुक्ल जी की जन्मभूमि और उनके की, उनके परिश्रम की तारीफ करनी और सहयोग से लिखी पुस्तक के लाइफ ऑफ सेम्युल जॉनसन' लिखी अप्रतिम है, लेकिन उनसे यह गलती उन्होंने प्रस्तुत नहीं किया और वे वे व्यवस्थित ढंग से शुक्ल जी की के जीवनी क्रम में यह भी उल्लेखनीय

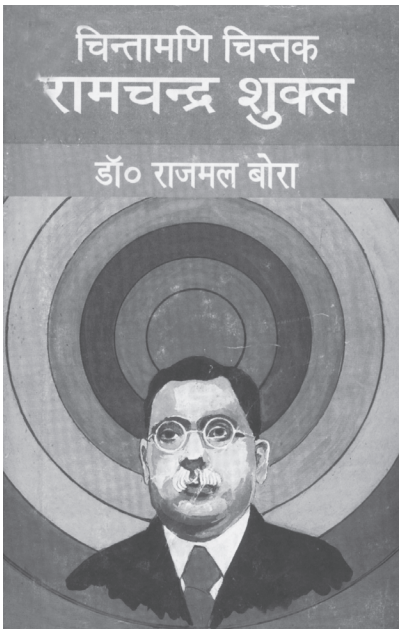

ठाकुर), आचार्य रामचंद्र शुक्ल : आलोचना (रामस्वरूप चतुर्वेदी), तिवारी), रामचंद्र शुक्ल (नीलकांत), (भवदेव पांडेय), कविता का शुक्ल प्रधान) ही नहीं, संचयिता (सं. रामचंद्र निकली, लेकिन दुखद बात यह है जीवनी 'चिंतामणि चिंतक : रामचंद्र दिया। हिंदी प्रचारक पब्लिकेशंस, इस जीवनी में डा. बोरा ने जिस तरह कार्यक्षेत्र का दौरा करके सामग्री इकट्ठी पड़ेगी। डा. विजयपाल सिंह के निर्देशन आदर्श हैं जेम्स वॉसवेल, जिन्होंने 'दि थी। इस पुस्तक में डा. बोरा का शोध हो गई कि तथ्यों को ठीक क्रम से अपच के शिकार हो गए। वैसे यदि जीवनी लिखते तो—प्रेमचंद और निराला होता। जो नहीं है। इसका मुझे भारी दुख है, लेकिन मुझे लगता है इस जीवनी के आधार पर शुक्ल जी की जीवनी लिखी जा सकती है।

पत्रिका के इस अंक में मधुरेश ने परिश्रमपूर्वक शम्सुर्रहमान फारुखी के महत्त्वपूर्ण उपन्यास 'कई चांद थे सरे आसमां' की विस्तृत समीक्षा लिखी है। रेवतीरमण की 'बांदा का योगी : केदारनाथ अग्रवाल' की समीक्षा भी वस्तुपरक है। शेष सामग्री में भी रचनात्मक-आलोचनात्मक संस्पर्श की झलक आपको मिलगी। एक बार फिर समीक्षकों से मेरा आग्रह है कि पत्रिका की पृष्ठ संख्या 56 का ख्याल रखते हुए 2000 शब्दों से ज्यादा समीक्षा नहीं लिखें। हमें संपादन में दिक्कत होती है।

इस बीच मुंबई के जीवंत और खोजी पत्रकार डे की हत्या हुई और संवेदनशील पत्रकार साजिद रशीद हमारे बीच नहीं रहे। इन्हें हम 'पुस्तक-वार्ता' परिवार की ओर से श्रद्धांजलि देते हैं। हिंदी के प्रतिष्ठित साहित्यकार और 'हंस' मासिक के संपादक राजेन्द्र यादव को पत्रिका की रजतजयंती वर्ष के प्रकाशन के अवसर और उनके 83वें वर्ष में प्रवेश करने पर दीर्घायु की कामना करते हैं

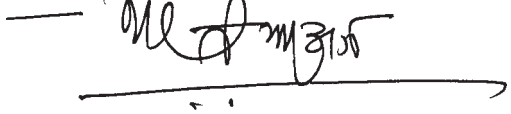

मुहब्बत, फ़न और जिंदगी की तलाश की दास्तान

मधुरेश

शम्सुर्रहमान फ़ारूकी का 'कई चांद थे सरे-आसमां' उपन्यास होने के बावजूद एक आसान पाठ नहीं है, लेकिन थोड़ा धैर्य रखकर उसके पचास पृष्ठ पढ़ लेने के बाद उससे किसी सागर-तट पर पिए जाने वाले मीठे-मलाईदार डाब की याद आती है, जो गहरी तृप्ति की अनुभूति जगाता है। कथा के केंद्र में वजीर ख़ानम नामक जो स्त्री है, सन् 1811 में जन्मी वह अपनी तीन बहनों में सबसे छोटी है। उसकी दो बड़ी बहनें, जो क्रमशः बड़ी और मंझली बेग़म के तौर पर जानी जाती हैं, अनवरी बेग़म और उम्दा ख़ानम हैं। वज़ीर ख़ानम, तीनों में सबसे छोटी होने से जो स्वाभाविक रूप से छोटी बेग़म भी हैं, सौभाग्य और दुर्भाग्य के दो आत्यन्तिक छोरों पर खड़ी स्त्री है, घटनाओं और संयोगों के बीच जीती-मरती रहकर भी जो जीने का हौसला नहीं खोती। हर नए संघर्ष में जीवन में स्थिरता और सुरक्षा की तलाश, यानी ख़ुद जीवन ही उसकी जिंदगी का मक़सद बन जाता है। एक के बाद एक, सोलह साल के अरसे में उसकी चार शादियां होती हैं और उसके ये चारों पति ही वस्तुतः उसकी जिंदगी के आसमान पर उगे चार चांद हैं। अहमद मुश्ताक़ की एक काव्य-पंक्ति का सहारा लेते हुए कहा गया है, 'कई चांद थे सरे-आसमां' कि चमक-चमक कर पलट गए।' वज़ीर ख़ानम की जिंदगी के आसमान पर चमके और पलटे इन चार शख़्सों की कहानी शम्सुर्रहमान फ़ारूकी बहुत धैर्य के साथ बयान करते हैं, इतिहास की आवाजाही के बीच। अपने में वज़ीर ख़ानम किसी उल्लेखनीय इतिहास का हिस्सा नहीं है, लेकिन उसके वजूद को इस पूरे दौर के इतिहास से अलग करके नहीं देखा जा सकता। उसके इन चार शौहरों में से दूसरे नवाब शम्सुद्दीन खां से 25 मई, 1831 को जन्मे बेटे की ख़ातिर वज़ीर ख़ानम सचमुच इतिहास का एक हिस्सा बन जाती है। उसका यह बेटा अमीर मिर्ज़ा उर्दू अदब के इतिहास में दाग़ देहलवी बनकर इतिहास रचता है। दाग़ को शायरी का लगाव अपनी इसी मां से मिला था, जिसे उस दौर के मशहूर शायर नसीर ने बाकायदा 'ज़ोहरा' का तख़ल्लुस अता फ़रमाया था। नसीर के द्वारा उसकी संशोधित नज़्म सुनकर उसके बाप ने टिप्पणी की थी, 'यह चौदह साल की कुंआरी बच्ची से ज़्यादा किसी अभ्यस्त और उस्तादों की महफ़िलें देखे हुए मर्द का कलाम लगता है'...(कई चांद थे सरे-आसमां, पृ. 140) उसकी उम्र के पंद्रहवें साल में जब अचानक उसकी मां असगरी की मौत हो जाती है, तो शादी के सुझाव पर वह अपनी बड़ी बहन से कहती है, 'सुन लीजिए' मैं किसी से दबने-डरने वाली नहीं हूं'...(पृ. 142) वह उस उम्र को पहुंच गई है जहां जिंदगी के बारे में संजीदगी से सोचने की ज़रूरत होती है। औरत की जिंदगी के लिए दो ही रास्तों की बात उसने सुनी है—बच्चे और गृहस्थी या फिर कोठा। वह इसके लिए अपने को तैयार नहीं कर पाती कि सचमुच इन दो रिवायती रास्तों के अलावा कोई और रास्ता नहीं हो सकता। वह सुंदर और ख़ुश मिजाज तो है ही, शायरी ने उसे संवेदनशील भी बनाया है। इस सबमें शायद उसके गहरे आत्मविश्वास से उपजे गुरूर का दख़ल भी हो सकता है। अपने जिस निर्णय की घोषणा वह करती है, उसमें उसके भविष्य के संकेत भी मौजूद हैं। अपनी बहन से वह कहती है, 'मुझे जो मर्द चाहेगा, उसे चखूंगी, पसंद आएगा तो रखूंगी, नहीं तो निकाल बाहर करूंगी...' (पृ. 144) हालात ऐसे बनते हैं, संयोगों की जिनमें हमेशा एक निर्णायक भूमिका होती है कि वे मर्द ही एक-एक करके उसका साथ छोड़ते जाते हैं। उसकी जिंदगी के आसमान पर अपनी चमक-दमक दिखाकर वे पलट जाते हैं।

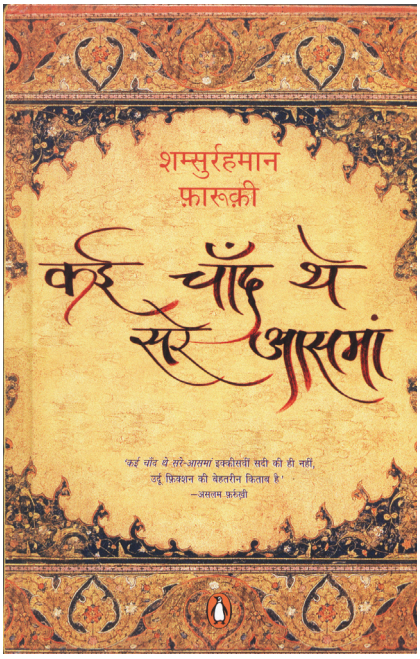

मोटे तौर पर कुलमिलाकर, एक के एक बाद चार शौहरों के बीच जो पंद्रह वर्ष का समय वज़ीर ख़ानम को मिलता है सोलह से तीस-बत्तीस की उम्र के बीच का समय, वह किसी भी औरत की जिंदगी का बेहतरीन और यादगार समय होता है। वज़ीर को भी इसमें अपनी खूबसूरती और ख़ुशदिली के कारण एक लंबी और यादगार दुनिया देखने को मिलती है। उसके अनुभव उसकी उम्र के मुक़ाबले उसे कहीं अधिक प्रौढ़ और पुख़्ता बना देते हैं।

उसका पहला शौहर एक अंग्रेज़ अधिकारी मार्स्टन ब्लेक है, जो आंधी-पानी की एक

संध्या को उसी तूफ़ान की तरह उसकी जिंदगी में आता है। जब तक वह जिंदा रहता है, उसी का होकर रहता है। उससे उसे दो संतानें भी होती हैं—एक बेटी और एक बेटा। चार साल के इस संबंध में वज़ीर ख़ानम को एक हिंदुस्तानी बीवी की हैसियत में दुश्वारियों से गुज़रना भी होता है, जिसमें जब-तब वह लहू-लुहान भी होती है। ब्लेक ने बेटी का नाम सोफ़िया रखा था। बहुत लड़-झगड़ कर उसने उसे 'बादशाह बेग़म' में बदला और ज़िद करके वही कहलवाया। एक सुझाव 'मसीह जान' का भी था, जो उसने नहीं माना। ब्लेक सत्ता और हुकूमत की कौम का प्रतिनिधि है। हिंदुस्तानियों को महकूम मानकर ख़ुद को हाकिम और मालिक समझने की प्रवृत्ति घर में भी उसे दिखाई देती है, ब्लेक में। उसके अपने प्रसंग में, भले ही वह इतनी साफ़ न हो। बाद में ब्लेक के जो फुफेरे भाई-बहन-टिंडेल आकर साथ ही रहने लगते हैं तो यह परेशानी बढ़ती है। हर हिंदुस्तानी चीज़ की बुराई की जाती है। खान-पान नहान-सफ़ाई के तरीक़ों में गहरा फ़र्क है। सिर्फ़ बिस्तर ही वह जगह है जहां मुल्की मामले ख़लल नहीं डालते। ब्लेक भी उसे अपनी इंग्लैंड की जिंदगी की बाबत कुछ नहीं बताता। वहां मंगेतर या पत्नी ही नहीं, उसके मां-बाप या भाई-बहन के बारे में भी उसे कोई जानकारी नहीं है। जो और जितना वह उसके सामने है, बस उतने की ही जानकारी उसे है। कल को वह अगर उसे छोड़ दे, वह कहां जाएगी? उसका यह असुरक्षा-बोध उसे गहराई से हलकान करता है। सब कुछ के बावजूद उसके जीवन में वह सुरक्षा और निश्चिंतता नहीं आ पाती, जिसकी किसी, ख़ासतौर से एक हिंदुस्तानी स्त्री के लिए सबसे ज़्यादा ज़रूरत होती है।

दोनों टिंडेल 'भाई-बहन कुंआरे हैं। भाई फौज में रसद सप्लाई करता है। उनके आने के बाद दोनों बच्चे मुसलिम और ईसाई धर्मों के तौर-तरीकों एवं संस्कृति के ग़ैर ज़रूरी खिंचाव के शिकार होते हैं। एमिली बेली, टामस मेटकाफ की बेटी की डायरी में सोफ़िया के मुतल्लिक कुछ अंतरंग टीपें दर्ज़ हैं। उनमें उसके गंवारू उच्चारण पर ख़ास ज़ोर है।

अचानक बलवाइयों द्वारा मार्स्टन ब्लेक की हत्या के बाद वज़ीर ख़ानम जैसे चौड़ी-कुशारा सड़क पर चलते-चलते जैसे किसी खड्ड में जा गिरती है। उस दुख की घड़ी में भरसक अपने को बिखरने से बचाते हुए वह टिंडेल भाई-बहन से किसी कदर सख्ती से पेश आती है। एक हिंदुस्तानी औरत को इस नए रूप में देख, उन्हें हैरत भी कम नहीं होती। बच्चों को लेकर यह समझौता होता है कि जब चाहे वह बच्चों से मिल सकेगी। उनकी पढ़ाई में फारसी-उर्दू भी शामिल होगी। उनकी शादियों में उससे पूछा जाएगा। वे बच्चे दोनों तरह के कपड़े पहनेंगे—यूरोपियन और हिंदुस्तानी। बच्चों का खर्च वह उठाएगी, शुरू में एक के लिए बीस रुपये महीने के हिसाब से। इस तरह बच्चों को हमेशा के लिए छोड़कर जब वह वापस दिल्ली लौटती है, उसकी उम्र महज़ 19 वर्ष और चंद महीने है। मझली बहन के ज़रिए वह सरकीबालान में स्वतंत्र रिहाइश का इंतज़ाम करती है। यह मार्च, सन् 1830 की बात है। सारे दुखों के बीच—हुस्न ऐसा कि क़सम खाइए और देखते रहिए।

इसके बाद उसकी जिंदगी में नवाब शम्सुद्दीन अहमद का प्रवेश होता है। उनकी पहले से ही तीन बीवियां हैं। इस परिचय को गहरी अंतरंगता में बदलने की प्रक्रिया में शायरी का विशेष दखल रहा है। वजीर ख़ानम अपने शे'र कहने में तो माहिर है ही, उसे न जाने कितने शायरों के शे'र याद हैं जो उसकी भावनाओं की अभिव्यक्ति में उसकी मदद करते हैं। ऐसा ही एक फ़ारसी शे'र वह नवाब को सुनाती है, 'आप असल बहार हैं, मैं तो पतझड़ की सूखी हुई पत्ती हूं जिसे आपने अपने क़दमों तले लाकर जिंदा कर दिया है।' (वही, पृ. 238) जिंदगी भर, जो अवधि संयोग और बदक़िस्मती से अधिक नहीं है, वे इस पर अमल करते हैं, एक-दूसरे में खोए।

वज़ीर ख़ानम का शायद सबसे अच्छा समय यही है। नवाब शम्सुद्दीन बहुत ठाट-बाट और शायराना तबीयत का आदमी है। अपनी और अपने खानदान की इज़्ज़त के नाम पर वह रेजीडेंट मार्टिन फ्रेजर से पंगा लेता है और बात उसकी हत्या तक जा पहुंचती है। उसके विरुद्ध कोई स्पष्ट प्रमाण न होने पर भी, अंग्रेजी, क़ानून के मुताबिक, मारस्ट और सर्वेंट थ्योरी के आधार पर, नवाब को तुरत-फुरत फांसी की सज़ा सुना दी जाती है। फांसी के समय उसका शाहाना व्यवहार अपने मक़सद के लिए शहीद होने जैसा है। फांसी पर चढ़ते समय, इस्लामी रिवायत के हिसाब से, वह हरे लिबास पर ज़ोर देता है। न जाने क्यों, काली की जगह फांसी की लाल टोपी जल्लाद के हाथ से लेकर वह ख़ुद पहन लेता है। बुलंद दरवाज़े पर सरेआम फांसी पर चढ़ने से पहले अपनी मिट्टी की दुआ वह ख़ुद पढ़ता है और जल्लाद के हाथ से लेकर फांसी का फंदा स्वयं गले में डाल लेता है। उस समय उसकी उम्र सिर्फ़ छब्बीस साल और कुछ महीने थी। उसकी आन-बान, गज़ब की लापरवाही और ग़ैर जज़्बाती सब्र देखकर मौक़े पर तैनात अंग्रेज़ हाकिम को हैरत होती है। वह कहता भी है, 'वल्लाह, ऐसा लगता है गोया हर सुबह को फांसी पर चढ़ना इस बदमाश ही तफ़रीह हो!' (वही, पृ. 468) शहीद का दर्ज़ा देकर उसे क़दम शरीफ़ में दफ़नाया जाता है और गौर करें उसके जनाज़े में आठ हज़ार लोग थे। वज़ीर ख़ानम से जन्मा नवाब मिर्ज़ा नाम का उसका बेटा आगे चलकर दाग़ देहलवी होता है—मां से शायरी और पिता से विद्रोह की इसी परंपरा की विरासत पाकर।

उसकी ननद जहांगीरी बेग़म जब अपने हाल में विधुर हुए जेठ आग़ा मिर्ज़ा तुराब अली का पैग़ाम उसे देती है, उसकी प्रतिक्रिया है, 'कोई मेरा दिल चीर कर देखे तो उसे मालूम हो कि मैं तो एक वीरान मज़ार हूं जिस पर नवाब शम्सुद्दीन अहमद ख़ां की याद चिरागे़-लौह की रौशन है...(वही, पृ. 499) फिर भी, जल्दी ही वह तीसरा चांद बनकर उसकी जिंदगी में आता है। जल्दी ही सोनपुर के मेले से हाथी खरीद कर लौटते हुए अपने काफ़िले के साथ, ठगों द्वारा उसकी हत्या कर दी जाती है। फिर उसका चौथा और अंतिम शौहर मुग़ल सम्राट बहादुर शाह जफ़र का बेटा मिर्ज़ा मुग़ल बनता है। जब आनन-फ़ानन हैजे या किसी दरबारी षड्यंत्र का शिकार होकर उसकी मौत होती है, बेग़म ज़ीनत महल उसे महल खाली करने का फ़रमान सुनाती है। जब बड़ा होता बेटा उसे अपने हक़ की याद दिलाता है, उसका उत्तर है, 'हक़ क्या चीज़ है साहिबे-आलम?...वज़ीर ने ज़हर भरी हंसी के साथ कहा, 'सारी जिंदगी हक़ की तलाश में रही हूं। वह पहाड़ों की किसी खोह में मिलता हो तो मिलता हो, वरना इस आसमान तले तो कहीं देखा नहीं गया...' (वही, पृ. 738) सच्चाई को समझ और स्वीकार करके वज़ीर खानम अगले

दिन ही महल छोड़ देती है। उसकी विदाई के इस दृश्य पर ही उपन्यास समाप्त होता है।

'अगले दिन मग़रिब के बाद क़िला मुबारक के लाहौरी दरवाज़े से एक छोटा-सा काफ़िला बाहर निकला। एक पालकी में वजीर, एक बहल पर उसका घरेलू सामान और पालकी के दाएं-बाएं घोड़ों पर नवाब मिर्ज़ा खां और खुर्शीद मिर्ज़ा। दोनों की पुश्त सीधी और गर्दन तनी हुई थी। मुहाफ़िज़ खाने वालों ने रोकने के लिए हाथ फैलाए तो मिर्ज़ा खुर्शीद आलम ने एक-एक मुट्ठी अठन्नियां, चवन्नियां दोनों तरफ़ लुटाईं और यूं ही सर उठाए निकल गए। उनके चेहरे हर तरह के भाव से खाली थे, लेकिन पालकी के भारी पर्दों के पीछे चादर में लिपटी और सर को झुकाए बैठी हुई वज़ीर ख़ानम को कुछ नज़र न आता था।...' (वही, पृ. 741) सम्राट का दिया 'शौक़त महल' का उसका ख़िताब उसी क़िले की चहारदीवारी में छूट जाता है—उसकी सास ज़ीनत महल के फ़रमान से, जिसे इस बात का गर्व है कि उसके सर पर मलिका नूरजहां का ताज है। उसी के फ़रमान से अब वह खाक़ का वही ज़र्रा है, जो यहां आने से पहले थी। वह भले ही अनिश्चित भविष्य के सोच में डूबी, चादर में सिमटी, सर झुकाए बैठी हो, लेकिन घोड़ों पर दोनों बाजू चलते उसके बेटों की पुश्त सीधी और गर्दन तनी थी।

मोटे तौर पर उन्नीसवीं सदी के जिन आरंभिक चार दशकों की कहानी उपन्यास में दर्ज़ है, औरतों के लिए वह एक बुरा समय था। वैसे पलटकर यह भी पूछा जा सकता है कि औरतों के लिए अच्छा समय रहा ही कब है—सभ्यता और संस्कृति के सारे झूठे-सच्चे दावों के बावजूद। यह ऐसा दौर है जिसमें अक़्सर लड़कियों की जवानी और बुढ़ापा साथ आते हैं या फिर अधिक-से-अधिक दो वर्ष के फ़र्क़ के साथ। अपने समय की दीवार पर लिखी इबारत पढ़ने में औरत को प्रकृति की ओर से जैसे एक खास सलाहियत हासिल होती है। हबीबा एक प्रसंग में कहती है, 'सांप और औरत ज़मीन के अंदर ही ठीक हैं... (वही, पृ. 125) उम्दा बेग़म अपनी छोटी बहन वज़ीर को तसल्ली देते हुए समझाती है, 'मगर हम लोगों के पास चारा ही क्या है। जो कुछ नसीब से मिल गया, उसे ही बेहतर से बेहतर निभाने की धुन में लगे रहें, यही हम औरतों का धरम है।...(वही, पृ. 326) वज़ीर बेग़म की 'जिंदग़ी के जो सोलह वर्ष उपन्यास में अंकित हैं, सोलह से बत्तीस की उम्र के, वह कहीं और किसी भी औरत की जिंदग़ी का सबसे बेहतरीन समय होता है। तब वह ज़मीन पर होते हुए भी हकीक़त में ऊपर कहीं आसमान में होती है। जिस दौर में लड़की की जवानी की उम्र महज़ दो साल तजवीज की गई हो, वह इन सोलह वर्षों में अपनी जवानी और उसके सम्मोहन को वैसे ही बनाए रखती है। इसी बीच उसके चार बच्चे भी होते हैं। उसके जीवन के आकाश पर जो चार चांद रौशन होते हैं, वह सब उसके सौंदर्य और समय को ठेंगा दिखाते उसके हुस्न की बिना पर ही संभव होता है। जब उम्दा बेग़म उसकी तीसरी शादी का पैग़ाम लेकर आती है, उसे समझाते हुए कहती है, 'लेकिन जिंदग़ी ऊंच-नीच की जगह है, औरत के लिए मर्द बड़ा सहारा और ताक़त होता है। उम्र का सूरज ढलने के साथ जिंदग़ी की धूप में तेजी आने लगती है। उस वक़्त औरत के सर पर कोई छांव न हो तो सब झुलसकर रह जाए, कुछ बाकी न रहे।'' (वही, पृ. 498) वह उसे यह समझाने में कामयाब होती है कि आख़िर औरत के लिए मर्द उसके बदन की चादर है। वज़ीर ख़ानम में जो गुण हैं, बेशक वे उसे प्रकृति की देन हैं। चाहे उसका बेमिसाल सौंदर्य हो या फिर शेरो-शायरी का कमाल, उसका अपना क्या है? लेकिन प्रकृति तो बहुतों को बहुत कुछ देती है। कितने लोग हैं, जो उस नेमत को सहेज और संवार कर रखते हैं और उससे अपनी और दूसरों की जिंदग़ी में उजाला भरते हैं। प्रकृति से मिली इन नेमतों के कारण ही उसे उड़ने को एक ऊंचा आकाश मिलता है। एक मामूली हैसियत से वह चांद को छू पाने की इस ऊंचाई तक पहुंची है, लेकिन चाहे मार्टिक फ्रेजर हो या टिंडेल भाई-बहन और बाद में खुद मलिका नूरजहां का ताज सर पर होने के गर्व में इतराती ज़ीनत महल, वह अपना तेज बरक़रार रखती है।

जब मार्टिन फ्रेज़र उससे 'मुक़ारबत' का प्रस्ताव रखता है, शब्द के पीछे छिपी व्यंजना को समझने में उसे देर नहीं लगती। इस अरबी शब्द के एक मायने मेल-जोल बढ़ाने, करीब आने के अलावा 'साथ सोना' भी होते हैं। इस प्रस्ताव का जो उत्तर वह फ्रेज़र को देती है, वह उसे उसकी असलियत बता देता है। वह कहती है, 'क्या औरत कोई भेड़-बकरी है कि जहां चाहा हांक कर ले गए?...(वही, पृ. 337) हांका जाना उसकी प्रकृति के विरुद्ध है। वह अपनी सोच और इच्छा से चलती है और उसकी भरपूर क़ीमत भी चुकाती है।

जब बेग़म जीनत महल उससे सम्राट द्वारा अता फ़रमाया 'शौक़त महल' का ख़िताब छीनकर उसे शाही ड्योढ़ी छोड़ने का फ़रमान सुनाती है, खाक़ के ज़र्रे को फिर वही बना देने के घमण्ड के साथ, तो वज़ीर बेग़म किसी क़दर व्यंग्य के लहज़े में कहती है, 'लेकिन सरकारे आलिया, वज़ीर ने थोड़े से व्यंग्य से कहा, 'मैं फिर भी वली अहदे हिंदुस्तान की बेवा कहलाऊंगी। आगे कोई वली अहद हो, कोई बादशाह हो, लेकिन यह चतर मेरे हक़ीर सर के ऊपर से कोई उतार नहीं सकता।...(वही, पृ. 735) लगता है उसके व्यंग्य में दस साल आगे के इतिहास का व्यंग्य भी शामिल है, जब न कोई बादशाह बनने के लिए रह जाता है, न ही वली अहद। जिनके लिए यह सारी बिसात बिछाई जाती है, उन्हीं के कटे सर बेग़म और सम्राट को थाल में रखकर पेश किए जाते हैं। पता नहीं तब वज़ीर ख़ानम कहां और किस हाल में थी, लेकिन वह अपने दावे के हिसाब से, वली-अहदे हिंदुस्तान की बेवा ज़रूर थी।

अपनी प्रकृति में 'कई चांद थे सरे-आसमां' एक ऐतिहासिक उपन्यास नहीं है, यद्यपि लेखक ने 'तारीख़ी वाक़ेयात की प्रामाणिकता का हर मुमकिन हद तक ध्यान रखे जाने' की बात कही है। लेखक ने यह सुझाव भी दिया है कि उपन्यास को '18वीं-19वीं सदी की हिंदी-इस्लामी तहज़ीब और इन्सानी और सांस्कृतिक और साहित्यिक सरोकारों का चित्रण समझकर पढ़ा जाए तो बेहतर होगा... (आभार, पृ. 743)

बेशक उपन्यास में इतिहास की आवाजाही उसका एक ज़रूरी हिस्सा है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद की विस्तारवादी नीति, इस्लाम सहित भारतीय धर्मों से ईसाइयत की टकराहट, ईसाई धर्म और संस्कृति के प्रति आत्ममुग्ध उपनिवेशवादी दृष्टि और सबसे अधिक भारतीयों को हीन और घृणित समझकर उनके उत्पीड़न की लंबी और त्रासद प्रक्रिया यहां मौजूद है। दिल्ली का समूचा सामाजिक और सांस्कृतिक

परिवेश, हलचलें आदि यहां बहुत जीवंत रूप में अंकित हैं। इन ब्यौरों को ऐतिहासिक प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत किया गया है। जब नवाब शम्सुद्दीन खां की फांसी के कारण दिल्ली में फ़साद का सवाल उठता है, साइन फ्रेज़र ऐसी किसी संभावना से इंकार करता है। उसका तर्क है, दिल्ली के अमीर अब लौंडों और तवायफ़ों पर मरते हैं, इज़्ज़त पर नहीं...' (वही, पृ. 451)

मिर्ज़ा नौशा (ग़ालिब), मुंशी घनश्यामलाल आसी, ज़ौक और शायरी की दुनिया में क़दम भरते, दाग़ आदि अपनी शायरी, आपसी रंजिशों और खुद के ईर्ष्या-द्वेष के साथ यहां मौजूद हैं। इक्यासी साल का बूढ़ा और अशक्त सम्राट, उम्र में उससे पचास साल छोटी बेग़म ज़ीनत महल के सपने और महत्त्वाकांक्षाएं, महल के षड्यंत्र और ऐय्याशी—ये सारी चीज़ें उपन्यास के ऐतिहासिक न होने पर भी उसकी पृष्ठभूमि को ऐतिहासिक ज़रूर बनाती हैं। इस मायने में 'कई चांद थे सरे-आसमां' उपन्यास में ब्यौरों की पुनर्स्थापना का एक बड़ा उद्यम भी माना जा सकता है—बहुत कुछ उन्नीसवीं शताब्दी के रूसी और फ्रेंच उपन्यासों की तर्ज़ पर। इन ब्यौरों के पीछे जबर्दस्त तैयारी का बोझ हमेशा बना रहता है। कभी-कभी यह तैयारी अतिरेक और अतिचार की सीमा भी छूने लगती है। मौसूक़ी के प्रसंग में राग-रागनियां और तानें, कालीन के नक़्शे, हथियार और पोशाकें, अंग्रेज़ हाक़िमों की जीवन-शैली, लेखक जिस क्षेत्र की बात करता है, उसकी यह कोशिश रहती है कि वह दौर अपने समूचे रूप-रंग और हलचलों के साथ सामने आए। ये ब्यौरे कब और कैसे ग़ैर ज़रूरी तफ़सीलों में बदल जाते हैं, इसके सिर्फ़ दो उदाहरण काफी होंगे। वज़ीर ख़ानम जब पहली बार नवाब शम्सुद्दीन से मिलने जाती है, उसके लिबास की लंबी और जटिल तफ़सील इसका एक उदाहरण है। इसमें उसके लिबास बदलने की प्रक्रिया को भी शामिल किया जा सकता है। इसका दूसरा उदाहरण नवाब तुराब अली खां और उनके काफ़िले की ठगों द्वारा हत्या के बाद एक पूरा अध्याय 'महाकाली' ठगों की रीति-नीति, व्यवहार और कार्य-शैली के ब्यौरों से अटा पड़ा है। फिलिप मिडोज टेलर के 'एक ठग की दास्तान' के बाद इस सबमें उतना नयापन भी नहीं रह जाता है। यह तैयारी और उसके इस्तेमाल के बहुत साफ और सूक्ष्म ब्यौरे बेशक उपन्यास का एक मज़बूत पक्ष है, लेकिन जब-तब उनका अतिरेक ऊब और खीझ भी पैदा करता है। तब रसूल हमज़ातोव याद आते हैं—बारिश अच्छी लगती है, लेकिन उसकी ज़्यादती भी परेशानी और ऊब पैदा करती है। उपन्यास के लिए खोज और उत्खनन की प्रक्रिया भी वज़ीर ख़ानम के प्रसंग में खासी दिलचस्प है। वज़ीर ख़ानम का पड़पोता वसीम जाफ़र लंदन में डॉ. खलील असगर से मिलता है और जल्दी ही यह मेल-मिलाप एक गहरी दोस्ती में बदल जाता है। वसीम अपने ब्रीफ़केस में से निकालकर वज़ीर ख़ानम की एक तिहाई फटी तस्वीर उसे दिखाता है। डाक्टर असगर पेशे से आंखों का डॉक्टर है, लेकिन लोगों के खानदानों की कड़ियां मिलाने और शज़रा बनाने की उसकी धुन जुनून की हद तक पहुंची हुई है। लंबी और गहरी खोजबीन के बाद चीज़ों की जो शक़्ल सामने आती है, उससे डॉक्टर को यह मलाल भी होता है, 'मुझे अफ़सोस रहा कि अगर इतिहासकार या उपन्यासकार होता तो मुहब्बत, फ़न और जिंदग़ी की तलाश की दास्तान मैं ज़रूर लिखता'...(वही, पृ. 31) वसीम जाफ़र की वसीयत डॉक्टर को, हिंदुस्तान लौट आने के बाद, मार्टिन एंड मार्टिन नामक एक क़ानूनी फ़र्म से मिलती है। उसमें सारे संबंधित काग़ज़ात उन्हें सौंप देने के साथ शोध के लिए एक हज़ार पाउंड देने की बात भी कही गई थी। उपन्यास का यह शुरुआती हिस्सा भी उसे किसी क़दर जटिल और दुरुह बनाता है, कड़ियों का मिलान डॉक्टर की तरह पाठक से भी थोड़े धैर्य की अपेक्षा रखता है, लेकिन उसे पार कर लेने के बाद 'मुहब्बत, फ़न और जिंदग़ी की तलाश', वाली इस दास्तान में हम गहरे डूबने लगते हैं।...उपन्यासों की बेहिसाब भीड़ में 'कई चांद थे सरे-आसमां' जैसा उपन्यास रोज़ नहीं लिखा जाता।

कई चांद थे सरे-आसमां/शम्सुर्रहमान फारूक़ी/अनुवाद : नरेश 'नदीम'/पेंगुइन इंडिया—यात्रा बुक्स/11, कम्युनिटी सेंटर, पंचशील पार्क, नई दिल्ली-110017 मूल्य : ₹ 475

372, छोटी बमनपुरी, बरेली-243003, फोन (0581)-2554670, मो. 093198-38309

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय का प्रकाशन

चार खंडों में

हिंदी साहित्य का मौखिक इतिहास

(स्मृति-संवाद)

शोध एवं संपादन

नीलाभ

मूल्य

250/- (प्रति खंड)

1000/- (चारों खंड)

एकमात्र वितरक

शिल्पायन

10295, वेस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032

हॉस्टल के पन्नों पर मीडिया

विजय शर्मा

कॉलेज जीवन आज की एक बड़ी सच्चाई है। कॉलेज जीवन के साथ जुड़ा है हॉस्टल जीवन, विशेषकर जब आप किसी खास विषय जैसे इंजीनियरिंग, मेडिसिन अथवा व्यवसाय-प्रबंधन की पढ़ाई कर रहे हों। विश्व साहित्य में इंग्लिश में हॉस्टल जीवन पर उपन्यास और फिल्में खूब मिलती हैं। इधर इन्हीं इंग्लिश किताबों को आधार बनाकर कुछ हिंदी फिल्में भी बनी हैं। चेतन भगत और अभिजित भादुड़ी जैसे लेखकों की इंग्लिश में लिखी सामान्य पुस्तकें भी हाथोंहाथ ली गईं, क्योंकि हमारे यहां इस विषय पर पहले से कुछ उपलब्ध नहीं था। विषय की नवीनता ने पाठकों को आकर्षित किया। चेतन भगत की 'फ़ाइव पॉइंट समवन', अभिजित भादुड़ी की 'मीडिओकर बट एरोगेंट' कॉलेज तथा हॉस्टल को कथानक बनाकर लिखे गए उपन्यास हैं। हिंदी में मेरी दृष्टि अब तक इस विषय के किसी उपन्यास पर नहीं पड़ी है। मनोज सिंह ने इसकी पहल की है। उन्होंने हॉस्टल जीवन को उकेरते हुए एक उपन्यास लिखा है। उपन्यास का नाम ही है 'हॉस्टल के पन्नों से'।

मनोज सिंह के उपन्यास में वह सब है जो इंग्लिश के इन उपन्यासों तथा आज की इसी थीम पर बनी कुछ फिल्मों में है। मसलन रैगिंग, कॉलेज में चलने वाली राजनीति, कॉलेज जीवन में लड़कियों के प्रति आकर्षण, कॉलेज में अटूट दोस्तियां आदि, आदि। फिर भला इसमें नया क्या है? इसमें नई बात है मीडिया और तकनीकी की जीवन में घुसपैठ तथा शिक्षा जगत की झांकी। पूरे उपन्यास में तकनीकी और मीडिया साथ-साथ चलता है। कहानी को आगे बढ़ाने में इसकी अहम भूमिका है। इसमें मीडिया के प्रयोग, उपयोग तथा दुरुपयोग को बहुत प्रभावी तरीके से दिखाया गया है। उपन्यास शुरू से आखिर तक मीडिया के खेल, उसकी चालाकियों, उसके अंदरूनी दांवपेंच, उसकी शक्ति, प्रचार-प्रसार-प्रभाव को विस्तार से दिखाता है। उपन्यास इस तथ्य को बखूबी चित्रित करता है कि आज किस तरह मीडिया हमारा जीवन संचालित कर रहा है। इस चित्रण के कारण यह उपन्यास मानीखेज हो जाता है।

उपन्यास दो काल में चलता है, पर ये काल सीधी रेखा में नहीं प्रदर्शित हैं। कथा में समय आगे-पीछे होता रहता है। अतीत से वर्तमान और वर्तमान से अतीत में आवाजाही निरंतर जारी रहती है। यह सीधी-सी बात है—अतीत में मीडिया न के बराबर था। हमारे देश में संचार क्रांति मात्र दो-ढाई दशक पुरानी घटना है। पिछली सदी के आठवें दशक में टीवी आया और शीघ्र ही कम्प्यूटर ने हमें अपनी गिरफ्त में ले लिया। पांच-छः साल

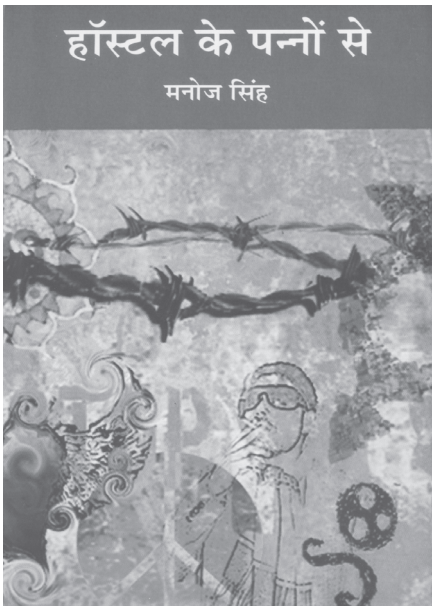

पहले शुरू हुई सोशल नेटवर्किंग हमारा आज का यथार्थ है। मोबाइल, याहू, गूगल ने दुनिया माउस के सहारे हमारी मुट्ठी में ला दी है। मोबाइल, एसएमएस, फेसबुक, ऑरकुट, स्काईप, चैटिंग जीवन का अंग हैं, भले ही बीस प्रतिशत आबादी का। यह बीस प्रतिशत आबादी समाज में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। ये ही काफी हद तक समाज के नियंता हैं। इनकी कोशिश से समाज में परिवर्तन आ सकता है। उपन्यास दिखाता है कि कैसे ये लोग समाज में क्रांति के नियामक हो सकते हैं।

'हॉस्टल के पन्नों से' उपन्यास इसी बीस प्रतिशत की कहानी है। लड़कों का यह हॉस्टल एक इंजीनियरिंग कॉलेज का हॉस्टल है। इसी कॉलेज से पढ़कर निकले दुष्यंत, प्रणव, सेरिल, मिलिंद, अरुण, विष्णुदत्त, देवधर आदि के जीवन में उतार-चढ़ाव को बुनते हुए उपन्यास चलता है। आज ये सब प्रौढ़ हैं और सफल-असफल जीवन व्यतीत कर रहे हैं। जब-जब कहानी वर्तमान में चलती है, मीडिया संचालित है। अतीत में संचार व्यवस्था का यह हाल था कि कभी-कभार घरों से पत्र आया करते थे। तार आना एक घटना हुआ करती थी। फोन आना और भी दुर्लभ था।

याहू ग्रुप के कारण ही दुनियाभर में फैले एक जमाने के दोस्त आपस में जुड़े हुए हैं। यहां भी सब सक्रिय नहीं हैं। एक सौ बीस मित्रों में से मात्र पचास लोग ही एक्टिव हैं। यह सब शुरू से नहीं, बल्कि पिछले पांच-सात सालों से ही हुआ है। आज सोशल नेटवर्किंग के कारण दुनिया के तमाम देशों के लोग एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। प्रणव पार्टी में कहता है, ''इस याहू ग्रुप के कारण हमारे बीच मेलजोल बढ़ा है। हम लोग पूरे विश्व में फैले

होने के बावजूद एक बार फिर एक-दूसरे से जुड़ने लगे हैं। हमारे बीच न केवल दूरियां खत्म हुई हैं, इसने समय को भी पीछे धकेला है...इस कारण हमारे बीच में भाईचारे की भावना एक बार फिर जागी है।'' उपन्यास में यह बात खटकती है कि प्रणव और दुष्यंत एक समय के घनिष्ठ मित्रों को एक-दूसरे का पता नहीं है। दुष्यंत के विषय में दूसरों को भी कुछ नहीं मालूम है, जबकि दुष्यंत की बेटी जीविका उसे याहू ग्रुप की जानकारी देती रहती है। वे लोग प्रणव के भारत आगमन के विषय में सब कुछ जानते हैं। इसी तरह अरुण के विषय में जानकारी न होना भी अजीब है। वह एक कोचिंग सेंटर चलाता है, जहां से प्रतिवर्ष काफी संख्या में छात्र निकलते हैं। प्रेम से छात्र उसे केजी सर यानी कोच एण्ड गाइड पुकारते हैं। उसके छात्रों ने उसका फैन क्लब बनाया हुआ है, नेट पर और ऑरकुट पर भी वह है। भूत एवं वर्तमान के उसके कई छात्र टेक्नोसैवी हैं। असल में जो सफल हैं और एक खास वर्ग को बिलांग करते हैं, वे आपस में आसानी से संपर्क साध लेते हैं और दुष्यंत तथा अरुण उस वर्ग का प्रतिनिधित्व नहीं करते हैं। लेखक बड़ी कुशलता से इस तथ्य को उपन्यास में रखता है।

उपन्यास का प्रथम खंड हॉस्टल में रैगिंग से प्रारंभ होते हुए तकरीबन सब प्रमुख पुरुष पात्रों का परिचय कराता है। द्वितीय खंड बीस-बाइस साल बाद प्रणव के अमेरिका से लौटते समय हॉस्टल की कई बातों को याद करते हुए चलता है। प्रणव के भारत आने के एवज में दी गई पार्टी और उसमें हॉस्टल की कुछ और यादों को ताजा करने, महिला पात्रों के परिचय कराने से इस खंड का अंत होता है। तीसरा खंड प्रमुख पात्र दुष्यंत के संग हुई दुर्घटना और दोस्तों के बीच प्रणव द्वारा दुष्यंत की सहायता के लिए मीडिया के द्वारा पुनः संपर्क के प्रयास से शुरू होता है, जिसमें उसे ज्यादा सफलता नहीं मिलती है।

चौथा खंड मुख्य रूप से अरुण की हॉस्टल की यादों से शुरू होता है। वह शुरू से विष्णुदत्त की असलियत को लेकर शंकित है। पांचवा खंड मुख्य रूप से मिलिंद के द्वारा अतीत की सैर कराता है। छठे खंड में वर्तमान पूरी तरह से उपस्थित है। प्रणव के साथ हुई बातों का थोड़ा खुलासा होता है। अरुण और प्रणव उसकी सहायता के लिए प्रयास शुरू करते हैं। पहले बहुत सफलता नहीं मिलती है। यहीं शिक्षा और अरुण की कई चारित्रिक विशेषताओं का विस्तार से पता चलता है। इसी खंड में युवा शक्ति, परिवर्तन का आभास मिलने लगता है।

पता नहीं क्यों उपन्यास की अधिकतर स्त्रियां निष्क्रिय हैं। चाहे वो दुष्यंत की पत्नी शांतिप्रिया हो, अरुण की पत्नी नीता अथवा स्वयं प्रणव की पत्नी कविता हो या फिर मयंक की पत्नी सुधा। नीता पहले एक कोचिंग सेंटर में काम करती थी, वहीं अरुण से उसकी मुलाकात हुई और बाद में दोनों ने शादी की, मगर शादी के बाद वह मात्र पत्नी बनकर रह गई है। कोचिंग सेंटर में पढ़ाने का मतलब है, वह उच्च शिक्षा प्राप्त है। इसी तरह शादी के पहले शांतिप्रिया इन्हीं लोगों के इंजीनियरिंग कॉलेज की लाइब्रेरी में काम करती थी। उसने नौकरी क्यों छोड़ी? खासकर जब दुष्यंत की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी।

मनोज सिंह अपने तीसरे उपन्यास में समाज में शिक्षा जगत के आदर्श रूप को प्रस्तुत करते हैं। अतीत में इंजीनियरिंग कॉलेज है ही, मगर वहां कॉलेज से ज्यादा हॉस्टल जीवन है। वर्तमान में हमारे देश में शिक्षा की दिशा-दशा को उपन्यास विस्तार से प्रस्तुत करता है। अधिकांश शिक्षा संस्थान नोट छापने के गढ़ बने हुए हैं। खासतौर पर जब शिक्षा में पब्लिक-प्राइवेट पार्टनरशिप (पीपीपी) की बात पॉलिसी के रूप में आ चुकी है, तब खतरा और बढ़ जाता है। विष्णुदत्त जैसे लोग शिक्षा को अपने हित में हाईजैक करते हैं। उसकी एक यूनीवर्सिटी, दो-तीन इंजीनियरिंग कॉलेज और एक मेडिकल कॉलेज चलते हैं। वह पूरा माफिया तंत्र चलाता है। शिक्षण संस्थानों के अलावा उसके व्यापार का क्षेत्र होटल, फैक्टरी, मीडिया जैसे टीवी चैनल, न्यूजपेपर को भी समेटे हुए है। मंत्रियों, सरकारी उच्च अफसरों से उसकी साठ-गांठ है। वह खुद चुनाव में खड़े होकर मंत्री बनने के सपने देख रहा है। अपराधी बेटे को बचाने के लिए वह किसी भी हद तक गिर सकता है। किसी की जान लेने से भी नहीं हिचकता है। एक समय के अपने सहपाठी को मरवाने और अपने हित में उसे न मरने देने का पूरा-पूरा प्रबंध करता है। माफिया सरगनों के हाथ में शिक्षा देकर क्या हम अपने देश का भविष्य कुंए में नहीं ढकेल रहे हैं। लेखक ऐसे लोगों की पोल खोलकर समाज को सावधान करता है। एक ओर विष्णुदत्त है, जिसके लिए शिक्षा का अर्थ मात्र पैसे बनाना है। दूसरी ओर सिविल इंजीनियरिंग करके निकले लल्लन सिंह को घर के नक्शे में बेडरूम कौन-सा है, यह पता नहीं है। उसे वह चार लाइन का बॉक्स लगता है।' लेकिन देश का दुर्भाग्य है कि यही लल्लन सिंह एक इंजीनियरिंग कॉलेज में पढ़ा रहा है। क्लास में वह सिर्फ गप्पें मारता है, उससे और कौन-सी उम्मीद की जा सकती है। अधिकतर छात्र भी उसकी क्लास में मस्ती करते हैं। यदि किसी दिन कोई छात्र किसी तरह का प्रश्न पूछ लेता है तो पहले वह उसे बाद में बताने को कहकर टरकाना चाहता है। खुदा न खास्ता छात्र ने उत्तर जानने की जिद की तो हत्थे से उखड़ जाता है। शायद वह किसी मंत्री का बेटा था, जिनका पढ़ने-लिखने में विश्वास नहीं होता है।

इस तरह हॉस्टल के पन्नों से होता हुआ मीडिया, राजनीति, शिक्षा का विस्तृत संसार अपनी समस्त अच्छाइयों, सीमाओं, बुराइयों के साथ फैलता हुआ कॉलेज के बड़े से हॉल में समाप्त होता है, जहां जीविका छात्र संघ की अध्यक्ष के रूप में विष्णुदत्त को सरेआम नंगा करती है, उसके प्रतिरोध के रूप में कार्यक्रम छोड़कर बाहर निकल जाती है और उसके पीछे-पीछे अन्य छात्र भी विष्णुदत्त के मुख्य अतिथि बनाए जाने के विरोध में हॉल से बाहर निकल जाते हैं। इस समय भी मीडिया सक्रिय है। उनके कैमरे चमक रहे हैं। मीडिया के लोग विष्णुदत्त को दरवाजे पर और जीविका को बाहर घेरने, उनसे प्रश्न पूछने की होड़ में लग जाते हैं। कुल मिलाकर उपन्यास पठनीय है। भविष्य में मनोज सिंह से और नवीन विषयों की विविधता तथा प्रौढ़ता की उम्मीद है।

हॉस्टल के पन्नों से/ मनोज सिंह/ राजकमल प्रकाशन, बी-1, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, मूल्य : ₹ 450

151, न्यू बाराद्वारी, जमशेदपुर, 831001, फोन नं. 0657-2436251, मो. 09430381718, ई-मेल : vijshain@yahoo.com

---

उपन्यास

चलना जीवन का नाम...

निरंजन देव शर्मा

धर्म मानव जीवन में क्या भूमिका अदा करता है। जन साधारण का सबसे बड़ा आलंबन धर्म है। बड़े-बड़े समाज सुधारकों ने भी समाज सुधार के लिए धर्म का सहारा लिया। स्वामी दयानंद ने आर्य समाज की स्थापना की तो राजा राममोहन राय ने ब्रह्म समाज की। महात्मा गांधी तक को समाज में सार्थक हस्तक्षेप के लिए धर्म का आलंबन लेना पड़ा था। धर्म के इन्हीं सकारात्मक पक्षों की पहचान करते हुए सूर्यनाथ सिंह का पहला उपन्यास 'चलती चाकी' का निशांत मानवता को जिंदा रखने के मिशन पर निकल पड़ता है।

इस उपन्यास का यह मुख्य पात्र किसी मिशन के तहत स्वामी श्वेतानंद नहीं बनता, बल्कि अनचाही घटनाओं के घटने से उस राह पर आगे बढ़ता है, जहां जीवन के अर्थ तलाशे जा सकते हैं। पति-पत्नी के बीच बढ़ते झगड़े उस मुकाम पर आ पहुंचते हैं, जहां निशांत की पत्नी माधवी उसे छोड़कर चली जाती है और वह समाज का सामना करने के बजाय ऊहापोह में बिना कुछ सोचे-समझे घर छोड़ने का फैसला करता है। मानसिक अवसाद की स्थिति में वह इलाहाबाद पहुंच जाता है। यहीं निशांत को माघी मेले में घूमते और प्रवचन सुनते हुए धर्म और आस्था की ताकत समझ में आती है और जीवन को नई दिशा देने का रास्ता भी दिखाई देता है। वह निशांत से स्वामी श्वेतानंद हो जाता है। जो निशांत अब तक अपने और परिवार के लिए साधारण मध्यवर्गीय जीवन जी रहा था, वह अब श्वेतानंद बनकर समाज के लिए जीने का फैसला करता है।

क्या भेस बदलकर समाज के उत्थान में योगदान देने निकल जाना निशांत का जीवन से पलायन और अपनी पहचान छिपाने की मजबूरी है या फिर उपन्यासकार द्वारा इस तरह की कथावस्तु का चुनाव करना पारिवारिक जीवन और समाज की विडंबनाओं को एक साथ रेखांकित करना है? परिवार में स्त्री ही दमन का शिकार होती रही है या फिर पुरुष भी प्रताड़ित होता है? यदि निशांत को जीवन की नई राह चुननी ही थी तो वह एक अन्य घटनाक्रम के चलते वापिस उन्हीं स्थितियों में क्यों लौट आता है? ऐसे बहुत से प्रश्न उपन्यास पढ़ लेने के बाद पाठक के मन में उठेंगे। इन प्रश्नों के जवाब भी पाठक को उपन्यास के भीतर ही ढूंढ़ने होंगे। उपन्यास की अंतिम पंक्तियां हैं :

निशांत के मन में द्वंद्व चल रहा था। दौलतपुर की स्मृतियों के बजाय होशंगाबाद पहुंचने के बाद की स्थितियों का आकलन-अनुमान।

चलती चाकी

सूर्यनाथ सिंह

यानी अब उसके मन में फिर से पहले सा जीवन जीने को लेकर ऊहापोह थी, उस जीवन से जहां से वह पलायन कर गया था। तो क्या 'चलती चाकी' एक पलायनवादी उपन्यास है और निशांत एक पलायनवादी चरित्र।

उपन्यास का पहला ही प्रसंग श्वेतानंद बन चुके निशांत को पुलिस द्वारा एक फर्जी केस में गिरफ्तार कर लिए जाने से संबंधित है। पुलिस की अमानवीयता और षड्यंत्रों का सिलसिला स्वतंत्रता के मायनों पर प्रश्नचिह्न लगाता है। श्वेतानंद विपरीत स्थितियां झेलते हुए भी चिंतन करते रहते हैं—

सुरक्षा के नाम पर दुनिया भर में पुलिस और सुरक्षा बलों को इतने अधिकार दे दिए गए हैं कि वे गुंडागर्दी को अपना अधिकार समझने लगे हैं।...फौज के सिपाही युद्ध और दहशत के तनाव झेलते-झेलते इतने दुखवादी हो चुके हैं कि पर पीड़ा में इन्हें आनंद आता है।

अपने इस सोच-विचार में उन्हें अपनी कश्मीर यात्रा और वहां आतंकियों और फौज की आम आदमी पर ज्यादतियों से जुड़े वाकये याद आते हैं।

निशांत छात्र जीवन से ही मार्क्सवादी विचारों से प्रभावित रहा है। बेटी के जन्म लेने और पत्नी के मायके जाने पर उन्हें चुनावों में मदद करने जे.एन.यू. जाने का मौका मिलता है। अपेक्षित परिणाम न आने और सिद्धांतों के व्यावहारिकता के धरातल पर खरा न उतरने पर अखबार में एक लेख लिख देते हैं। यहीं वह अपनों और परायों के बीच अकेले पड़ जाते हैं। स्वभाव से प्रयोगधर्मी होने के नाते तय करते हैं कि जन साधारण के बीच जाकर उनकी समस्याओं को समझना

चाहिए, सो छोटा नागपुर इलाके में आदिवासियों की समस्याएं समझने निकल पड़ते हैं। वहां भी आदिवासियों के मुखिया और एन.जी.ओ. की मिलीभगत से आहत होकर लौटते हैं। इसी बीच गांधी के विचारों से असहमत होते हुए भी उनकी आत्मकथा और हिंद स्वराज रेलवे स्टेशन से खरीदते हैं और पढ़ते हैं। इस तरह से निशांत के व्यक्तित्व का विश्लेषण करने पर हम पाएंगे कि वह समाज में बदलाव चाहता है और उसमें अपनी भूमिका का निर्वाह करना चाहता है। इसी के साथ वह इस बात से भी अनभिज्ञ है कि अपनी इस भूमिका का निर्वाह करेगा कैसे।

माधवी से निशांत की शादी को भी एक अनमेल विवाह की तरह देखा जाना चाहिए। वैचारिक रूप से दोनों एक-दूसरे के विपरीत हैं। निशांत कॉलेज के दिनों से मार्क्सवादी विचारधारा से जुड़ा रहा है। पार्टी के दोस्तों के प्रचार के लिए होशंगाबाद आने पर दोनों के संबंधों में दरार आनी शुरू हो जाती है। माधवी उन्हें शक की निगाह से देखती है। कभी चैताली भट्टाचार्य को लेकर तो कभी पार्टी एक्टिविस्ट सुधा को लेकर उस पर शक करती है। चाहकर भी निशांत माधवी से भावनात्मक स्तर पर जुड़ नहीं पाते। यह निशांत को श्वेतानंद के रूप में बदलने वाला दूसरा बड़ा कारण है।

पत्नी द्वारा नकारे जाने और घर छोड़कर चले जाने की स्थिति में निशांत दोराहे पर आ खड़ा होता है। इस प्रकार निशांत का सब कुछ छोड़-छाड़ कर घर से निकल पड़ना उस जीवन की तलाश में निकलना है, जिस तरह का जीवन वह वास्तव में जीना चाहता है। पत्नी का घर छोड़कर चले जाना उनके अपने अस्तित्व पर प्रश्नचिह्न लगा देता है। पति-पत्नी का संबंध उसे खोखला नजर आने लगता है। यह स्थिति उनके जीवन को एक दूसरी दिशा की ओर मोड़ देती है।

जीवन के अनुभव और गांधी का अध्ययन उसके सामने जीवन के नए अर्थ खोलते हैं, जिन्हें वह दौलतपुर में साकार करता है। दौलतपुर में जीवन को लेकर उसके प्रयोग फलित होने लगते हैं। निशांत का यह नया जीवन और गांव के कायाकल्प के उसके प्रयास उपन्यास को एक नई दिशा प्रदान करते हैं। उसके यह प्रयास अपनी पहचान छिपाने या जीवन से पलायन करने के प्रयास के तौर पर नहीं देखे जा सकते। यदि यही उसका मंतव्य होता तो वह धर्मांध और धर्मभीरू जनता की अज्ञानता का फायदा उठाते हुए गांव के जागीरदार राज नारायण सिंह की खुशामद करता हुआ सुविधाभोगी जीवन जीता। श्वेतानंद के रूप में निशांत अपने इस जीवन में दौलतपुर के लोगों के जीवन की अज्ञानता दूर करना चाहता है। वह अपने ज्ञान का बेजा फायदा उठाना चाहता तो चमत्कार दिखाता और अपना स्वार्थ साधता। वह अपने अर्जित ज्ञान से इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि दौलतपुर के लोगों ने अज्ञानता के चलते जमीन को एक फसली बना रखा है। उसका पहला लक्ष्य उन्हें स्वावलंबी बनाना है। आर्थिक रूप से गांव के लोग समृद्ध हों, यही लक्ष्य लेकर वह चलता है। उसका दूसरा लक्ष्य जातिवाद की जड़ों को कमजोर करना है। वह गांव के निम्न जाति के प्रधान के घर अनजाने में आश्रय तो लेता है, पर गृहस्वामी द्वारा जाति बताए जाने के बाद भी वहां भोजन ग्रहण करता है। भोजन से पहले कोई ध्यान-मंत्र का भी ढोंग नहीं करता। ढोंग करना चाहता तो ऊंची जाति वालों के यहां भोजन की इच्छा जाहिर करता। इस प्रकार गांव में पहला संदेश वह यही देता है कि वह अलग तरह का साधु है। साथ ही निचली जाति के गृह स्वामी के माध्यम से यह भी जताना लेखक के लिए जरूरी हो जाता है कि इस तरह के साधुओं की परंपरा रही है, जो जाति में विश्वास नहीं रखती।

...साधु भी अलग-अलग किस्म के होते हैं। औघड़ों को देखो कौन-सा नियम कड़ा है उनका। करपात्रियों को दखो, अंजुरी में जो भी भोजन आ जाए, वही खाकर गुजारा कर लेते हैं।...

सूर्यनाथ ने अपनी कथा यात्रा एक बाल कथाकार के रूप में शुरू की थी। प्रसंगों को रोचक बनाने वाली भाषा और समाज की नब्ज पर पकड़ इनके हाल ही में प्रकाशित एवं चर्चित कहानी संग्रह 'कुछ रंग बेनूर' में दिखाई दी थी। संग्रह की लंबी कहानी 'गंध' में औपन्यासिक तत्त्व देखे जा सकते हैं। 'चलती चाकी' का फलक यद्यपि बहुत विस्तृत नहीं है, फिर भी जिस तरह से कथ्य को निबाहा गया है, वह महत्त्वपूर्ण है। प्रश्न यह है कि गांवों को स्वावलंबी बनाने का गांधीजी का सपना क्यों राजनीति के केंद्र में नहीं आ सका। नागरिकों को सुरक्षा की गारंटी देने की जिम्मेदारी जिस पुलिस पर है, उसी का इतना आतंक क्यों है? पुलिस का अमानुषिक चेहरा यहां उभरकर सामने आता है। इस अमानुषिकता को दिखाने वाली व्यंग्यात्मक भाषा स्थितियों की विडंबना को और गहरा देती है। नशे में धुत थानेदार श्वेतानंद पर फर्जी केस बनाने पर आमादा है—

साले, भेस बनाए हो साधु का। हमें पता नहीं है...अबे रामजतन, खोल ससुरे की धोती। देख इसकी छुन्नी। साधु हो गया है। ऐसे थोड़े बताएगा। जाएगा बनारस, थर्ड डिग्री लेगा, तब उगलेगा साला।

निशांत एक ओर व्यवस्था में परिवर्तन चाहता है तो दूसरी ओर मध्यवर्गीय सामाजिक और पारिवारिक दबावों से भी मुक्त नहीं हो पाता। यह उपन्यास अज्ञेय के शेखर की तरह निशांत के व्यक्तित्व निर्माण का विश्लेषण नहीं करता। कुछ घटनाओं के माध्यम से हम निशांत के व्यक्तित्व के बारे में जान पाते हैं। ऐसा नहीं है कि उपन्यासकार का ध्यान निशांत के पलायनवादी चरित्र की ओर नहीं जाता। निशांत अपने जीवन की भूमिका श्वेतानंद के रूप में लिखने से पहले भारी अंतर्द्वंद्व से गुजरता है।

यह वैराग्य नहीं, पलायन है। तुम अपनी जिम्मेदारियों से, अपने आप से भाग रहे हो श्वेतानंद। वही पुरानी परछाई सामने उपस्थित थी।

यह पलायन नहीं है। समाज के लिए कुछ करना है तो यह रास्ता चुनना ही होगा कभी न कभी।

...तुम भगौड़े हो।

क्या इस तरह बुद्ध को भी भगौड़ा कह दोगे...

अब अंतर्द्वंद्व से गुजरने के बाद निशांत एकतरफा हो जाता है। वह पूरी तरह से दौलतपुर के उत्थान के लिए समर्पित हो जाता है। वह हर चीज का बारीकी से अध्ययन करता है। गांव की भौगोलिक स्थिति का, जाति आधारित व्यवस्था का और आर्थिकी का भी। लेखक की बारीक नजर बच्चों के

नामकरण में भी जाति भेद को चिह्नित करती है।

श्वेतानंद का ध्यान पहली बार इस ओर गया कि नाम के स्तर पर भी समाज में वर्ग विभाजन होता है। राजपूत टोले में बच्चों के पुकार के नाम गुड्डू, पप्पू, टिंकू वगैरह थे, जबकि हरिजन बच्चों के नाम टेनी, भगेलू, टेंगरी, ढेला वगैरह।

और भी व्यवस्था के बहुत से सच हैं, जो कथानक में घट रही घटनाओं के दौरान लेखक की पकड़ में सहज ही आ जाते हैं—

प्रशासनिक अधिकारियों की ट्रेनिंग ही शायद कुछ इस ढंग की होती है कि वे प्रेक्टिकल हो जाते हैं।

जाति का ऐसा मकड़जाल इस देश में फैल चुका है कि हर जाति का अपना नेता हो गया है।

हर जमाने के साथ नैतिक मूल्य भी बदलते रहते हैं।

माना कि धर्म के नाम पर काफी कट्टरता फैलाई जाती है, मगर हम बदलाव के नाम पर जो करते हैं, क्या वह भी एक प्रकार की कट्टरता नहीं है?

गौरतलब है कि लेखक का चिंतन कहीं पर भी कथा पर हावी नहीं हो पाता। यह इस उपन्यास की एक बड़ी उपलब्धि है। गवईं भाषा के मुहावरे को सूर्यनाथ उसके ठेठपने में पकड़ते हैं।

...हमहूं तो हिंए रुके हैं। पीछे भंडारा होत है।...गंगा मैया की किरपा अइसी कि ठंड बिल्कुल महसूसे नहीं होती। सबेरे उठो, असनान करो। संगम हिंया से बिल्कुल पास है।

कुल मिलाकर 'चलती चाकी' एक पठनीय उपन्यास है, जो हमारे समाज की विडंबनाओं पर सार्थक टिप्पणियां करता है।

चलती चाकी/सूर्यनाथ सिंह/सामयिक प्रकाशन, 3320-21, जटवाड़ा, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, मूल्य : ₹ 395

भारत भारती स्कूल, ढालपुर, कुल्लू, हि.प्र.-175101, मो. 09816136900

कहानी

रच-रच कर रची गई प्रेम-कहानियां

मोहनकृष्ण बोहरा

कृष्णबिहारी के नए कहानी-संग्रह 'इंतजार' की अधिकांश कहानियां नारी-केंद्रित हैं। इनमें कहीं नारी की प्रेम-भावना ने, तो कहीं उसकी संघर्षशीलता ने अपनी अभिव्यक्ति पाई है। अपने वक्तव्य में लेखक ने कहा है कि 'रचना को रच-रचकर रचने में मेरा विश्वास रहा है।' इन कहानियों में उसने औरत के इन दोनों पक्षों को बड़े धैर्य और कौशल से रचा और तराशा है। इन कहानियों का विशेष गुण यह है कि कहानियां लंबी हैं, लेकिन फिर भी रही ये एकसंवेदी ही हैं।

संग्रह की शीर्ष कहानी 'इंतजार' है। इसकी प्रधान नारी पात्र (वाचक की चाची) के व्यक्तित्व में प्रेम और संघर्ष दोनों का सहज समावेश हुआ है। प्रेम तो 'आंसुओं में लड़की' कहानी की जमीला ने भी किया था, लेकिन संघर्ष वह नहीं कर सकी। प्रेम 'अंततः पारदर्शी' की मीता भी करती है, लेकिन संघर्ष की नौबत उसके जीवन में आती ही नहीं, परंतु 'इंतजार' की चाची को तो विवाह के बाद से ही पति की उपेक्षा सहनी पड़ती है। इसलिए वैवाहिक-जीवन के साथ ही उसका संघर्ष भी प्रारंभ हो जाता है। संतान तो उसे होती है; सर्वेश, अवधेश और विमला; लेकिन पति के प्यार को वह तरसती ही रहती है। पति ललित मैट्रिक परीक्षा में बार-बार फेल हो जाने के कारण हीनता का शिकार हो जाता है। जब उसके पिता उसकी पढ़ाई का खर्च उठाने से इंकार कर देते हैं, तब उसकी हीनता और भी गहरा जाती है। ऐसे में वाचक की चाची अपने पति की पढ़ाई का खर्च उठाने का संकल्प लेती है। वह गाती है—अपने बलमां के पढ़ाइब हम मजूरी कइ के। तन अंगूरी कइ के। मन सिंदूरी कइ के। अपने राजा के...। बात-बात पर प्रसंगानुकूल लोकगीत गाकर या उसे प्रसंगानुसार ढालकर या स्वयं गीत रचकर वह अपने संकल्प को व्यक्त करती है, अपना दुख-दर्द भुलाती, उससे नई ऊर्जा पाती, वह संघर्षों का सामना करती चलती है। हर समय गीत गुनगुनाना ही उसकी पहचान बन जाती है। वह सचमुच चरखे पर सूत कातकर बेचती है और पति की पढ़ाई का खर्चा उठाती है, लेकिन एक असाध्य बीमारी की वजह से वह कभी पास नहीं हो पाता है। टूटे आत्मविश्वास वाला व्यक्ति कोई-सी नौकरी भी ठीक से नहीं कर पाता है। घर से दूर बड़े भाई के पास रहते हुए एक दिन वह लापता हो जाता है। इससे चाची सर्वथा बेसहारा हो जाती है, परंतु हिम्मत वह तब भी नहीं हारती। वह खेती में अपना हिस्सा अलग कर लेती है और लोकलाज छोड़कर खेतीबाड़ी संभाल लेती है। बच्चों के विवाह कर देती है। पुत्रवधुओं के मुंह फेर लेने

से भी उसे धक्का लगता है, लेकिन तब भी वह हारती नहीं है।

ऐसी जीवट वाली औरत के प्रति पाठक की अकुंठित सहानुभूति होती है। ऐसे में उसके बेटे-बेटी की आकस्मिक मृत्यु दिखाकर लेखक ने उसके दुख को, जो और गहराना चाहा है और पाठक में उसके प्रति जो अतिरिक्त दया भाव उपजाना चाहा है, वह उसकी अतिरेकी भावुकता ही है। उसका कोई वस्तुगत आधार नहीं होने से रचनात्मक-दृष्टि से यह कहानी कमजोरी ही हुई है। यद्यपि इस आरोपण के बावजूद रचना रही एकसंवेदी ही है।

लेखक में आरोपण की यह वृत्ति 'मरदानी' कहानी में भी मिलती है, जो कि अन्यथा औरत के अतृप्त प्रेम की ही नहीं, उसके संघर्ष की भी एक सशक्त कहानी है। उसका सपना बेटी अपर्णा को डाक्टर बनाने का था। जब सपना चरितार्थ होना संभव नहीं रहा, तब उसने उसके लिए डाक्टर वर की तलाश छोड़कर अजय जैसा योग्य वर तलाश लिया, लेकिन कहानी के अंत में अकारण ही अपर्णा के दोनों गुर्दे खराब होना बताकर वह अजय को अपनी दूसरी बेटी सुपर्णा से विवाह के लिए राजी कर लेती है। कहना कठिन है कि इस आरोपण से लेखक उस मरदानी की मरदानगी की एक और आवृत्ति दिखाने के अलावा उसमें और कोई इजाफा कर पाया है। अलबत्ता, इस निरंकुश फेर-बदल से कहानी कलात्मक दृष्टि से कमजोर ही हुई है, अन्यथा जैसे उसने मरदानी का दृढ़ संकल्प और अथक संघर्ष दिखाया है, वैसे ही उसने उसके सुलगते जिस्म और प्यासी आत्मा का भी प्रभावी मनोचित्र अंकित किया है; कहीं उसकी वेशभूषा से, तो कहीं तीखे संवादों से। पति का पानी तो वह पल-भर में उतार देती है, एक्के मिनट में पानी-पानी हो जाते हैं। सुलगता जिस्म और अतृप्त आत्मा चाची (इंतजार) की भी है, लेकिन उसकी अभिव्यक्ति का रूप और धरातल भिन्न है। उसका प्रेम भाव दमित है। वह अपने जेठ के बेटे से उसके शैशव-काल से ही अतिरिक्त स्नेह करती रही है। उसके साथ उसका विनोद-वाक्य यह रहा हे, 'बाबू हमसे विवाह करब।' जेठानी से जब उसका अबोला होता है, तब भी बाबू से वह प्रेम करती है और उसे कसकर चूमती भी है। यह प्रेम-भाव बाबू के भी अवचेतन में गहरे पैठा हुआ है। वही उसे चाची के पास खींच लाता है। चाची को इंतजार अपने पति का है, लेकिन कहना कठिन है कि अवचेतनतः इंतजार वहां बाबू का भी नहीं है या बाबू में भी चाची का नहीं है। जो भी हो, यह एक व्यंजक शीर्षक है।

'अंततः पारदर्शी' शीर्षक यद्यपि कहानी पढ़ने की उत्सुकता नहीं जगाता है, लेकिन पठनीयता इसमें भी असंदिग्ध है और मीता और वाचक में प्रेम के अंकुरण और पल्लवन-पुष्पन का जो चित्रण इसमें हुआ है, वह लेखक के रचना-कौशल का बेहतरीन नमूना है। मीता अपने पसंदीदा कहानीकार को अचानक सामने पाकर रोमांचित हो उठती है—'ऑयम थ्रिल्ड।' वह उससे पत्रिकाएं लेने के बहाने से शीघ्र ही अनौपचारिक हो जाती है। वह मेडिकल कराने जाता है, तब वह 'ऑल द बेस्ट' कहकर शुभकामनाएं देती है। यह परिहास करते हुए वह उससे आत्मीयता भी स्थापित कर लेती है कि कहीं 'एच.आई. वी. पॉजिटिव मत निकलना, वरना दुबारा मुलाकात नहीं होगी।' इस तरह, उसे पाकर वह आशंकामुक्त रहना चाहती है और आश्वस्त भी। वाचक की भी पहली प्रतिक्रिया यह होती है कि पहली ही दृष्टि में सुंदर लगी थी और फिर लगती ही चली गई। यह कथन मीता के सौंदर्य की ही स्वीकृति नहीं है, यह भी सूचित करता है कि मुलाकातों का सिलसिला पहली भेंट से ही शुरू हो गया था और फिर प्रेमी की नजरों में प्रेमिका का सौंदर्य निखरता ही चला गया! मीता भी कहती है कि मुलाकात के पहले दिन से ही तुम मेरे साथ थे। इस साथ के घनिष्ठता में बदलने की राह लेखक ने इस कल्पना से प्रशस्त कर ली है कि दोनों के एक ही प्रतिष्ठान में सेवारत होने से मिलने के अवसर आते रहे और मैत्री प्रगाढ़ता पाती रही। लेखक का रचना-नैपुण्य प्रगाढ़ता के प्रसंगों की रचना करने में ज्यादा प्रकट हुआ है। इन्हें ही उसने रच-रचकर रचा है।

बतौर प्रेम कहानी यह लेखक की खूब तराशी हुई रचना है। इसमें प्रेम को क्रमशः परवान चढ़ते उसने बखूबी दिखाया है, लेकिन इसके लिए उसने जो तेरह वर्ष की आंख-मिचौनी की दीर्घ अवधि की कल्पना की है, वह अतिरंजित है, विशेषतः दोनों की आतुरता के मद्देनजर। इसी तरह, मीता के पूर्व प्रेमी विनीत का जो प्रसंग उसने जोड़ा है, वह भी चस्पां किया हुआ ही है। उसकी न कोई रचनात्मक आवश्यकता ही दिखाई पड़ती है, न सार्थकता ही। अपेक्षा होती है कि औरत-मर्द के व्यवहार में खुलेपन के बढ़ते दायरे की अभिव्यक्ति दैहिक तल पर रहने के साथ-साथ सोच के समंदर में भी डूबती-उतराती और बिंबों-प्रतीकों के सहारे भी चलती, जो कि कहीं-कहीं वह चलती भी है, लेकिन भाषा का एक नया आयाम रचते हम उसे नहीं देखते।

'आंसुओं में लड़की' भी एक प्रेम कहानी है। इसमें जमीला अपने प्रेमी नासिर को पाने के लिए छटपटाती है। अपनी राह के अवरोधों को दूर करने के लिए वह एक सहकर्मी से परामर्श भी लेती है, लेकिन इसी सिलसिले में वह कब उस सहकर्मी से ही प्रेम करने लगती है, यह वह स्वयं भी नहीं जान पाती या तब जान पाती है, जब उसकी मां कम दहेज मिलता देखकर नासिर और उसकी मां का तिरस्कार करके इस रिश्ते की सारी संभावनाएं खत्म कर देती है। इस विषय में लेखक का कहना यह है कि 'नासिर और उसकी मां का अपमान करने में जमीला की भूमिका न के बराबर भी नहीं थी।' परंतु इसे स्वीकार करना कठिन है। जमीला जैसी पढ़ी-लिखी लड़की, मीडिया और शिक्षा जगत में काम कर चुकी लड़की, अपनी मां द्वारा अपने प्रेमी और उसकी मां का धन के लालच में अपमान किए जाते हुए देखे और प्रतिरोध भी न करे, चुप रहे, तो उसका प्रेमी इसे उसकी भी मिलीभगत के रूप में नहीं, तो और किस रूप में देखेगा? लेकिन लेखक ने इसे मां के जाहिल और आततायी पक्ष के आगे जमीला की लाचारी के रूप में दिखाना चाहा है। जमीला कहती है, अरब और अफ्रीकन वर्ल्ड की मुझ जैसी लड़कियों की जिंदगी एक-सी है। हम प्यार किसी से करते हैं, निकाह किसी से और बेचैन किसी और के आगोश में होते हैं। 'बहरहाल, वह अनुभव कर लेती है कि 'किसी काफिर (हिंदू सहकर्मी) से उसे जो हमदर्दी मिली, वह तो उसे अपने मां-बाप और आशिक से भी नहीं मिली थी।' तभी तो इस सहकर्मी ने उसके गले से जलती सिगरेट छुआ कर त्वचा पर जो दाग दे दिया था, वह उसे सहेजे रखती है। विदाई के क्षणों में उसके प्रति अपने प्यार को वह व्यक्त करके रहती है, 'मैं आपकी साइलेंट मोहब्बत को अपनी जिंदगी का अकीदा बनाना

चाहती हूं। मैं आपसे प्यार करती हूं। आपकी जगह नासिर से ऊंची है।'

संग्रह में दो कहानियां अलग आस्वाद की हैं। 'कोई मजहब, कोई कानून नहीं' एक मासूम और मोहक बालक कोंचई गुरु उर्फ शरद चतुर्वेदी की बालक-प्रकृति की कहानी है। कैसे बच्चे के चपल-चंचल व्यवहार और उसकी मुस्कान के सामने धर्म और कानून का अनुशासन भी शिथिल हो जाता है, इसे लेखक ने 'केसीनो-प्रकरण' रचकर अच्छे ढंग से दिखाया है। 'नो-बॉस...नो' कहानी बड़े व्यक्तियों में मिलने वाली चापलूस पसंदगी और कृपण-वृत्ति को जमकर बेनकाब करती है। मधुरकौर के चरित्र में लेखक ने औरत की मिथ्याभाषी प्रवृत्ति और उसका फ्लर्ट रूप दिखाया है। कुछ प्रसंगों को लेखक ने कुछ ज्यादा विस्तार दिया है, दंत-चिकित्सक आदि कई एक प्रसंग ऐसे हैं, परंतु यह समझना कठिन है कि कार-डिस्काउंट मामले में मधुरकौर की प्रवृत्ति अच्छी तरह उजागर होने के बाद भी बॉस उसे अपने इतना निकट बनाए कैसे रखता है! लेखक ने शायद एक फ्लर्ट औरत का प्रभाव दिखाना चाहा है। बहरहाल, कुछ प्रसंगों के अनावश्यक विस्तार के बावजूद यह कहानी भी रही एक संवेदी ही है। बॉस ही इसके केंद्र में है।

लेखक ने पात्रों की रचना भी मनोयोग से की है और भाषा भी रची है, लेकिन प्रमुखतः यह प्रसंगों का विधान है, जिसमें उसने रचना के मूल-संवेदन को कहीं ओझल नहीं होने दिया है। इसलिए विस्तार पाकर भी रचना रही कहानी के धरातल पर ही है। निर्मल वर्मा, उदयप्रकाश और लंबी कहानी के अन्य रचयिताओं की कहानियों के साथ इन कहानियों पर विचार करके लंबी कहानी की संवेदना और स्वरूप के बारे में कुछ सामान्यीकरण किए जा सकते हैं और उसे औपन्यासिक कहानियों से अलगाया भी जा सकता है। बहरहाल, इन कहानियों का एक जबरदस्त गुण इनकी पठनीयता है, जो अंत तक हमें बांधे रखती है।

इंतजार/कृष्णबिहारी/अरू पब्लिकेशन प्रा.लि., 9 दरियागंज, नई दिल्ली-110002, मूल्य : ₹ 395

मनीष मंजिल, रघुनाथपुरा, सिवंची गेट, जोधपुर (राज). 342001, मो. 09413341441

कहानी

यथार्थ का 'धुआं'

मंजु शर्मा

निरंजन श्रोत्रिय के कहानी-संग्रह 'धुआं' की इसी नाम से पहली लंबी शीर्षक कहानी है, जिसमें एक रचनाकार अपनी रचना प्रकाशित करवाने के लिए कितनी मेहनत करता है, किंतु फिर भी सफल नहीं हो पाता है। कहानी के माध्यम से एक बनावटी प्रगतिशील व्यक्तित्व की अवसर-वादिता, सुविधाभोगिता, आत्मकेंद्रितता को अनावृत करते उसके प्रति अपनी तीव्र घृणा को प्रस्तुत किया गया है।

आधुनिकता और शहरीकरण के द्वंद्व और अंतर्विरोध के बीच एक ओर शहर का विकास और दूसरी ओर अपने गांव, घर, पेड़ आदि के प्रति लगाव को अनदेखा न कर पाने की व्यथा को व्यक्त करती कहानी है 'कंधे'। यहां तक कि अपनी असहाय बीमार मां को जबर्दस्ती बिना उसकी इच्छा के शहर में लाकर बसाना, उनकी इच्छा के विरुद्ध विधिवत् शवयात्रा के स्थान पर 'फ्यूनरल वैन' में ले जाना आदि ऐसे प्रसंग हैं, जहां नई पीढ़ी मजबूर है, निरुपाय है, दुखी है और उसमें एक कसक भी रह जाती है कि हम अपने बुजुर्ग की इच्छाओं का सम्मान नहीं कर सके। इसी दोराहे की असमंजसपूर्ण स्थिति को प्रस्तुत करना लेखक का उद्देश्य है। कहानी दो मुखर पात्रों दादी और पोते के संस्मरणात्मक संवादों पर आधारित है। यह कहानी भावुकता तथा वास्तविकता को उजागर करने में सक्षम है। यथा, ''मृत्यु जैसी घटना को इतनी सहजता से लिया जाना उनके लिए एक आघात से कम नहीं था। दादी की आंखों का सूनापन मुझे चुभने लगा। अब उन्हें कैसे समझाया जाए कि शहर में पाए जाने वाले कंधे कई जिम्मेदारियों और व्यस्तताओं के बोझ से वैसे ही झुके रहते हैं, उनमें इतनी ताकत और अवकाश कहां कि किसी अर्थी को लग सकें।'' (पृ. 41)

एक पढ़े-लिखे प्रगतिशील युवा को बेरोजगारी की स्थिति भाग्यवाद की तरफ कैसे धकेलती है, इसकी विश्वसनीयता को प्रस्तुत किया गया है 'बेरोजगार' कहानी में। 'वह' किस प्रकार स्वयं से, परिवार एवं समाज से संघर्ष करता हुआ हताश जीवन जीने को विवश हो जाता है, यही इस कहानी का केंद्र बिंदु है। वह दिन-प्रतिदिन के प्रश्नों से ऊब जाता है। जैसे ''अरे भाई! आजकल क्या कर रहे हो? पीजी किए कितना वक्त हो गया... कुछ करो यार...! फादर रिटायरमेंट पर हैं...'' आदि। (पृ. 46) प्रस्तुत कहानी अत्यंत भावुक एवं मार्मिक है, जिसमें जीवन के कटु सत्य को अनावरित किया गया है। उदाहरणार्थ, ''अपनी शर्म को जमीन में बहुत गहरे गाड़कर वह बाऊजी से हर माह दो सौ रुपये लेता था। आवेदन, फोटो, टाइप, पोस्टल आर्डर, डाक

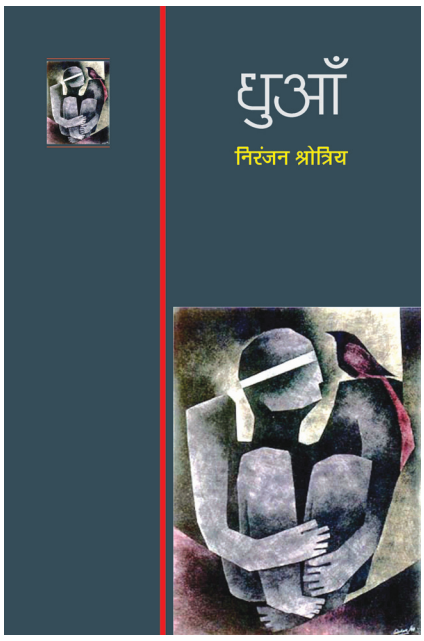

टिकट वे चीजें थीं, जो हर माह उससे दो सौ रुपये खर्च करवाती थीं—न जाने किस उम्मीद में! बाऊजी की अपेक्षा, मां की आशा, बहन का विश्वास, भाई का दिलासा, सभी कुछ तो होता था उन दो सौ रुपयों में।'' (पृ. 45) कहानी में लेखक का उद्देश्य मात्र घटना को प्रस्तुत करना ही नहीं है, वरन् वह ऐसे अनेक बेरोजगारों का मनोबल बढ़ाना भी है, जो भी विपरीत से विपरीत परिस्थिति में भी आशावादी बने रहें, मन में कभी आत्महत्या जैसे विचार न लाएं। जिजीविषा को कभी समाप्त न होने दें।

संग्रह की दो अन्य कहानियां 'शरणागत' और 'अर्द्धसत्य' फैंटेसी को यथार्थ रूप में प्रस्तत करके अंततः उसे फैंटेसी सिद्ध करने वाली अलग ढंग की विडंबनात्मक, किंतु मार्मिक कहानियां हैं। 'शरणागत' कहानी द्वारा लेखक ने एक पति के रूप में पत्नी में देखे जाने वाले अपेक्षित लक्षणों को गिनवाया है। ''ऐसी मध्यमवर्गीय पत्नियां, जो अपने घर को सजा-संवारकर रखती हैं, जिनके एक या दो प्रतिभाशाली बच्चे होते हैं, जिन्हें वे नियमित होमवर्क करवाती हैं, जिनके घर का खर्च बजट के अनुसार चलता है और जिन्हें शराब ओर सिगरेट से होने वाली हानियां अंगुलियों पर रटी होती हैं।'' (पृ. 51) कहानीकार निरंजन श्रोत्रिय की अवलोकन की गंभीरता प्रशंसनीय है। वे शहर में लगे हुए साधारण से बोर्ड से भी विचार का चयन कर लेते हैं यथा ''शहर तेजी से बढ़ रहा था और कालोनियों के नामकरण के लिए महापुरुषों के हिज्जे किए जाने लगे थे। जवाहरनगर अलग था और नेहरूनगर अलग, लोकमान्यनगर शहर के पूर्व में था और तिलकनगर पश्चिम में।'' (पृ. 55) इसी प्रकार 'बेरोजगार' कहानी में लिखा है, हमें अपने शहर पर गर्व है' वह एक विद्रूप हँसी के साथ बड़बड़ाता है, ''बारह लाख की आबादी और अरबों की संपत्ति का मालिक यह शहर, जो उसके लिए एक अदद नौकरी भी नहीं जुटा सकता, आखिर किस बात पर गर्व करता है।'' (पृ. 49)

निरंजन की कहानियां भौगोलिक दृष्टि से मध्यप्रदेश के क्षेत्र में सीमित हैं, किंतु भावनात्मक दृष्टि से वे असीमित क्षेत्र तक विस्तीर्ण हैं। प्रमाणस्वरूप इस क्षेत्र की पृष्ठभूमि पर आधारित उनकी कहानी 'अर्द्धसत्य' देखी

जा सकती है, जिसमें स्वयं लेखक एक पात्र के रूप में वैचारिक ढंग से समाज के उद्दंड युवाओं का विरोध करता है और लहूलुहान होता है। वह समाज में एक मजबूर और लाचार लड़की की असहाय स्थिति को प्रस्तुत करता है, जिसे उद्दंड युवा वर्ग हथियार सहित समूह में रहकर ताने देता है, कटुक्तियां करता है, अपमान करता है, इनसे प्रतिरोध का सीधा अर्थ है—मृत्यु। अतः ऐसी स्थिति में उन लड़कियों और उनके साथ चलने वाले भाई, प्रेमी, पति या फिर पिता की स्थिति भी चुपचाप सब कुछ सह लेने और विरोध न कर पाने की विवशता से पूर्ण होती है, यहां तक कि ऐसी स्थिति में सरकारी रक्षक अथवा पुलिस भी सब कुछ जानकर अनभिज्ञ बने रहते हैं। परिणामस्वरूप उनका दुस्साहस दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है तथा लड़कियां और अधिक लाचार होती जा रही हैं।

'कहानी के नाम पर' वस्तुतः कहानी नहीं, वरन् एक लेख अथवा अनुभव कहा जा सकता है, जिसके माध्यम से आधुनिक लेखक के मन में उठने वाले और समाज द्वारा पूछे जाने वाले प्रश्नों का उत्तर दिया गया है। आज लेखक अपने कर्तव्य से उदासीन क्यों होते जा रहे हैं, इस ओर भी ध्यान आकर्षित किया है। 'जानवर' कहानी के माध्यम से सजग चिंतक की भांति एक आदमी की कीमत जानवर की तरह सिद्ध की है। वे चिंतित हैं, क्योंकि, ''जमाना किस कदर खराब है। लोग अपने घरों में भी सुरक्षित नहीं।'' (पृ. 80) तथा ''दुनिया कितनी स्वार्थी हो गई आजकल! आप सरेआम खून कर दें, कोई गवाह नहीं।'' (पृ. 81) वस्तुतः आज व्यक्ति स्वार्थ के वशीभूत होकर अपनी कर्तव्यपरायणता, नैतिकता, सहानुभूति आदि गुणों से वंचित होता जा रहा है। प्लेग पीड़ित सूरत से निकटतम रिश्तेदार का परिवार कहीं शरण लेकर हमें खतरे में डालने न आ जाए, इस आशंका को मानवीय ढंग से व्यक्त करने वाली कहानी है 'प्लेग'।

संग्रह के अंतिम शीर्षक 'औरत : उत्तरकथा' के अंतर्गत लेखक ने अलग-अलग बिंदुओं में नारी के चरित्र को, उसकी विशेषता को उद्घाटित किया है। पुरानी चली आ रही मान्यताओं और प्रचलित कथनों पर नएपन के साथ विचार किया है। ये बिंदु बिना कुछ स्पष्ट व्याख्या के स्वतः ही अपने अर्थ को व्यंजित करने में सक्षम हैं। यथा ''दो प्रसूताएं—एक : मुझे लड़का हुआ है! दूसरी : मुझे लड़की हो गई!!'' (पृ. 96) इस प्रकार उनकी कहानियों में नवीनता देखने को मिलती है। कहानीकार की कल्पनाशीलता का परिचय उनकी नवीन उपमाओं द्वारा भी मिलता है। यथा—'बेरोजगार' कहानी में एक एम.एस-सी. पास बेरोजगार द्वारा मेडिकल कॉलेज के सामने से निकलते हुए डॉक्टरों को देखकर लेखक की कल्पना उपयुक्त ही है, जैसे—''स्टैथस्कोप उनके कंधों पर यों लटका होता है मानो नौकरी लटक रही हो।'' (पृ. 44) इसी प्रकार प्रतीकों का चयन करते हुए भी लेखक ने आसपास के वातावरण से ही उपादान संकलित किए हैं, जो अत्यंत साधारण एवं उपयुक्त हैं, जैसे—''ट्रैफिक सिग्नल उसे समाजवाद के प्रतीक लगते हैं। साइकिल हो या कार, वहां सभी को रुकना होता है।'' इसी तरह ''पीछे से आते जा रहे वाहन, हार्न की पीं-पीं भाषा में उसे कोस रहे थे कि क्यों वह मरियल-सी साइकिल लेकर शहर की व्यस्त सड़कों पर चलता-फिरता गतिअवरोधक बना हुआ है। उसे ये हार्न सामंती बिगुल से जान पड़े।'' (पृ. 44)

इस प्रकार इस संग्रह की कहानियां स्पष्टता, मार्मिकता, तार्किकता, व्याकुलता, आत्मीयता आदि के कारण रोचक और पठनीय हैं। इन कहानियों के माध्यम से कहानीकार अपने समय के यथार्थ से संघर्ष करते हुए विश्वसनीयता के ठोस धरातल पर टिका रहता है।

धुआं/निरंजन श्रोत्रिय/शिल्पायन, 10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032/ मूल्य : ₹ 130

बी-506, प्रभा अपार्टमेंट, प्लॉट-11, सेक्टर-23, द्वारका, नई दिल्ली-110075, मोबा. 9818849726

स्त्री के मन में अंतर्द्वंद्व की व्यथा-कथा

श्रीनिवास त्यागी

समकालीन कहानी लेखन में महिला कथाकारों की रचनात्मक धरातल पर सशक्त उपस्थिति हिंदी साहित्य के लिए अत्यंत सुखद है। हालांकि अन्य साहित्यिक विधाओं में भी उनका सार्थक, सृजनात्मक हस्तक्षेप धीरे-धीरे अपनी गति पकड़ रहा है। हिंदी कथा साहित्य के क्षेत्र में आज कृष्णा सोबती, मन्नू भंडारी, उषा प्रियंवदा, ममता कालिया, मृदुला गर्ग, मृणाल पांडेय, चित्रा मुद्गल, राजी सेठ, नासिरा शर्मा, अर्चना वर्मा, नमिता सिंह इत्यादि का मुकाम किसी भी मायने में पुरुषों से कम नहीं है।

इस लंबी शृंखला और परंपरा में एक महत्त्वपूर्ण नाम सुमति सक्सेना लाल का भी जोड़ा जा सकता है, हालांकि अभी तक उनके दो कहानी-संग्रह ही प्रकाशित हुए हैं। प्रथम कहानी-संग्रह है, अलग-अलग दीवारें तथा दूसरा कहानी संग्रह है—'दूसरी शुरुआत।'

इस संग्रह में कुल दस कहानियां हैं, इनमें से एकमात्र 'दूसरी शुरुआत' कहानी 1981 में लिखी गई है, शेष नौ कहानियां इक्कीसवीं सदी के प्रथम दशक के उत्तरार्द्ध (2005 से लेकर 2010) के बीच में लिखी गई हैं।

इस संग्रह की अधिकांश कहानियों में पढ़ी-लिखी हुई इक्कीसवीं सदी की नारी के मन की व्यथा एवं उनके जीवन की पीड़ा के विविध पक्षों को पाठक के समक्ष संवेदनशीलता के साथ प्रस्तुत किया है लेखिका सुमति सक्सेना लाल ने।

ज्यादातर स्त्रियां पढ़ी-लिखी हैं इस संग्रह की कहानियों में। लेखिका ने इन स्त्रियों के मन के अंतर्द्वंद्व और पीड़ा को बड़ी शिद्दत के साथ प्रस्तुत किया है। इन कहानियों में ज्यादातर स्त्रियां रिश्तों में छली गई हैं, प्रेम कर टूटी हैं, बिखरी हैं और कई तो एकाकी जीवन जीने के लिए अभिशप्त हैं, चाहे वह 'चौथा पुरुष' की नायिका जया हो अथवा 'बेघर' की नायिका 'वसु' हो या 'रिश्ते' कहानी की आनंदी। इस संग्रह की कहानियों में प्रेम है, प्रेम-विवाह भी है। प्रेम-विवाह का विरोध भी, साथ ही विवाहेतर संबंध भी, लेकिन ये संबंध ज्यादातर पुरुष ही बनाते हैं। चाहे जया का पति सुनील अपनी स्टैनो से प्यार करने लगता है और 'फिर वही सवाल' कहानी में मीनल उर्फ मीनाक्षी का पति रंजन भी अपनी असिस्टेंट से अवैध संबंध बना लेता है।

'प्यार' भी स्त्रियों के लिए ही ज्यादा दुखद साबित होता है, जैसा कि 'रिश्ते' कहानी की नायिका आनंदी के कहने पर यश जब शादी के लिए शीघ्र तैयार हो जाता है, तब

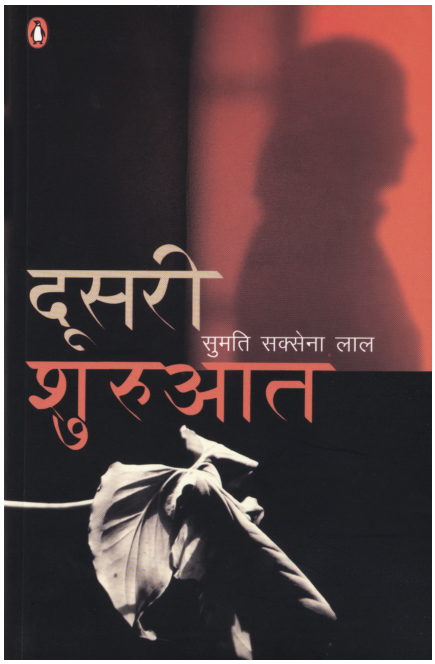

आनंदी सोचती है, 'जितनी आसानी से और जितनी जल्दी यश ने हां कर दी थी, उससे न जाने क्यों मन में कुछ चुभता रहा था।' यह चुभन और पीड़ा प्यार के रिश्तों में स्त्रियों के हिस्से में ही क्यों आती है? लेखिका ने स्त्री-पुरुष संबंधों को लेकर भूमिका में लिखा है कि "किसी के जीवन में एक पुरुष आया तो वह सती-साध्वी हो गई और किसी के जीवन में एक से अधिक पुरुष तो वह बाजारु।" लेकिन 'चौथा-पुरुष' कहानी की नायिका के जीवन में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से तीन पुरुष आते हैं और 'रिश्ते' कहानी की 'केतकी' के ही जीवन में एक से अधिक पुरुष आते हैं, जबकि अधिकांश पुरुषों के जीवन में एक से अधिक स्त्रियों के आने पर यह सवाल लेखिका का तार्किक एवं प्रासंगिक लगता है कि औरत ही बाजारू क्यों, पुरुष क्यों नहीं होता बाजारू?

इस संग्रह में संकलित कहानियों में अन्य सामाजिक-सांस्कृतिक पारिवारिक समस्याओं के साथ-साथ भ्रष्टाचार के सवाल को भी लेखिका ने दो कहानियों में उठाया है। 'लॉरेंस रोड लेन नंबर तीन' के चौबे "अपने डिपार्ट को आधा अपने पेट के अंदर डकार गया। अब इसकी बीवी, लाखों-करोड़ों का ठेका दिया गया इन नालियों के लिए।" इस कहानी में राजनीतिक छल-छद्म तथा बनावटीपन को भी उभार-कर सामने लाया गया है।

'किस रास्ते पर' कहानी के चौधरी साहब भी अपने बेटे अजय की रिश्वतखोरी एवं बेशर्मी पर शर्मिंदा हैं, लेकिन वह इतना बेखौफ है कलमाडी की तरह कि उसे "किसी का डर नहीं, न उनका (पिता का), न साथ वालों की निगाहों का, न विजिलेंस का।

कोई शर्म नहीं।''

'तू तो ऐसे फेंक न जाता' कहानी समाज में वृद्ध मां-बाप के साथ किए गए दुर्व्यवहार को उजागर करती है। जब बूढ़ी मां को पता चलता है कि ''साहब यहां तो रोज ही एकाध किस्से हो रहे हैं। गांव से आते हैं ये लोग और अपने बूढ़े मां-बाप को संगम किनारे छोड़कर चले जाते हैं।'' वह सन्न रह जाती है और उसे महसूस हो जाता है कि ''हां, रघु छोड़ ही गया शायद।'' मां को ''पीड़ा तो बस इसी बात की है...तू तो मुझे ऐसे फेंक के न जाता...पहुंचा के जाता।'' कितना दुख एवं मानसिक कष्ट ऐसे मां-बापों को होता है, यह कहानी बता देती है आम पाठकों को।

'बेघर' कहानी की नायिका 'बसु' के पिता और पति दोनों आई.ए.एस. हैं तथा 'दूसरी शुरुआत' कहानी के नायक-नायिका शेखर और मंगला भी आई.ए.एस. हैं। वसु के मौसा तथा नाना भी प्रशासनिक अधिकारी थे। इनमें कुछ श्रेष्ठता की ग्रंथि के शिकार होने के कारण अपनी संतानों का भविष्य खराब कर देते हैं। जैसे 'बेघर' की नायिका सोच रही है कि 'शायद ठीक कहती है मीना', ''पापा वह 'वट-वृक्ष थे, जिनके साये तले तुम और भैया पूरी तरह से 'ग्रो' किए ही नहीं। एम.ए., पी-एच.डी. करना भी कोई 'ग्रो' करना होता है। वहीं शेखर की हीनता पर उसकी पत्नी मंगला प्रहार करते हुए कहती है, ''किसी भी क्षेत्र में हीन होना बुरा नहीं है, शेखर बुरा है, उस हीनता का बोध रहना।'' इन अधिकारियों में मंगला तथा वसु के पति सुधीर का व्यवहार सामाजिक एवं व्यावहारिक दृष्टि से प्रशंसनीय है।

'फिर वही सवाल' कहानी की नायिका मीनल अपनी बेटी अमृता के सवालों के सामने बड़ी असहज हो जाती है और अपनी मां से किए गए अपने सवालों को याद करते हुए सोचती है कि मां ने 'हमारे बारे में तो सोचा होता।' हमने पूछा था, पापा को क्यों छोड़ा? आज अमृता पूछ रही है, ''क्यों रहती रही तुम पापा के साथ?'' अर्थात क्यों पढ़ी-लिखी, योग्य, प्रतिभा-सम्पन्न स्त्रियां भी अपने पतियों के दुर्व्यवहार को सहन करती रहती हैं।

'फिर कभी' कहानी की नायिका 'नमिता' लेखिका है, लेकिन हिंदी लेखक-लेखिकाओं को उनकी रचनाओं पर इतना कम पारिश्रमिक मिलता है कि उन रचनाओं का प्रशंसक आशुतोष भी व्यंग्य करते हुए कह जाता है कि ''यदि सिर्फ कविताएं ही लिखा करूंगा तो अपनी गंगा-जमुना के लिए भूसा नहीं खरीद पाऊंगा।''

संग्रह की अंतिम कहानी 'ऋणबद्ध' भी बहुत मार्मिक है। इसमें 'नीलू' नामक लड़की को उसके मां-बाप उसके हमउम्र भाई से इसलिए अलग करके हॉस्टल में छोड़ आते हैं, क्योंकि उसे मिर्गी की बीमारी थी। उसका भाई अपने पिता के इस कृत्य को कभी नहीं भूल पाता है और न उन्हें माफ कर पाता है, लेकिन 'नीलू' की मां अपने पति से दबी-सहमी उनकी हर बात मान लेती है, ''उनके पास अपनी सोच थी ही कहां, वे तो पापा की इच्छा और आदेशों को पूरा करने का यंत्र मात्र थीं।'' आज भी हजारों-करोड़ों नारियां हमारे देश में अपने पतियों की इच्छा एवं आदेशों की पालना में ही अपने कर्तव्यों की इतिश्री समझती हैं। कैसी पीड़ा है इक्कीसवीं सदी की औरत के जीवन में, जिसके प्रतिकार का साहस भी नहीं है उसके मन में। इस संग्रह की सभी कहानियों का 'कथ्य' पाठक तक सहजता से संप्रेषित हो जाता है। संप्रेषणीयता की दृष्टि से इस संग्रह की सभी कहानियां सफल हैं। इनका भाषिक विन्यास भी गौर करने लायक है। छोटे-छोटे वाक्य चरित्रों के मनोभावों को पूरी तीव्रता एवं आत्मीयता के साथ पाठकों तक संप्रेषित कर देते हैं।

समग्रता में इस संग्रह की सभी कहानी अत्यंत मार्मिक, पठनीय, सहज-सरल भाषा में हैं, जो पाठक को सोचने के लिए मजबूर कर जाती हैं, एक तरह से पाठक के सुषुप्त मनोभावों एवं मनोदशा को जाग्रत अवस्था में पहुंचाने का कार्य बखूबी करने में सक्षम हैं सुमति सक्सेना लाल की कहानियां।

दूसरी शुरुआत/सुमति सक्सेना लाल/यात्रा बुक्स-पेंगुइन बुक्स, 11, कम्युनिटी सेंटर, पंचशील पार्क, नई दिल्ली-110017, मूल्य : ₹ 150

हिंदी विभाग, गार्गी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-110049

निवेदन

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय ने हिंदी साहित्य को इंटरनेट पर उपलब्ध करवाने हेतु एक महत्त्वपूर्ण योजना पर कार्य प्रारम्भ किया है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग समर्थित इस परियोजना के प्रथम चरण में भारतेन्दु युग से लेकर 1950 तक के कॉपीराइटमुक्त हिंदी साहित्य के चुनिंदा एक लाख पृष्ठ **'हिंदीसमयडॉटकॉम'** नामक वेबसाइट में उपलब्ध करवाए जाएंगे। हिंदी साहित्य की सभी विधाओं से महत्त्वपूर्ण सामग्री का चयन, संपादन और प्रस्तुतीकरण इस प्रकल्प के अंतर्गत किया जाएगा।

इस परियोजना के तहत **'हिंदीसमयडॉटकॉम'** पर सर्वप्रथम उन लेखकों की रचनाओं को प्रस्तुत किया जाएगा, जिनका कॉपीराइट खत्म हो गया है। तत्पश्चात्, लेखकों व प्रकाशकों की सहमति/अनुमति से अन्य उत्कृष्ट रचनाओं को इस वेबसाइट में शामिल किया जाएगा। **'हिंदीसमयडॉटकॉम'** में म.गां.अं.हिं.वि.वि. द्वारा प्रकाशित सामग्री—यथा संचयिता, छवि-संग्रह आदि को भी उपलब्ध करवाया जाएगा।

'हिंदीसमयडॉटकॉम' इंटरनेट पर हिंदी साहित्य के प्रलेखन और ग्लोबल उपलब्धता का प्रतिनिधि जालघर होगा, जिसमें भारतेन्दु के नाटक, रामचंद्र शुक्ल के निबंध, प्रेमचंद के उपन्यास और जयशंकर प्रसाद की कविताएं अपनी समग्रता में, 'डायस्पोरा' सहित, दुनियाभर में फैले हिंदी पाठकों को उपलब्ध होंगी। अंग्रेजी में क्लासिक (www.classicreader.com) **रीडरडॉटकॉम** और (www.gutenberg.org) **गुटेनबर्गडॉटऑर्ग** जैसे जालघर अंग्रेजी के नामचीन लेखकों के साहित्य को इसी तरह घर बैठे उपलब्ध करवाते हैं।

इस अनूठी वेबसाइट की सामग्री का चयन एवं संग्रहण हिंदी लेखकों-पाठकों-प्रकाशकों-संपादकों-प्राध्यापकों-शोधार्थियों के साथ गहन संपर्क और अंतर्क्रिया से ही संभव है। अतः हिंदी साहित्य से जुड़ाव रखनेवाले सभी सहृदय सामाजिकों से अनुरोध है कि इस परियोजना को समावेशी और बेहतर स्वरूप प्रदान करने के लिए अपने उपयोगी सुझाव तो दें ही, सामग्री-संग्रहण और प्रस्तुतीकरण के कार्य में भी सहयोगी हाथ बढ़ाएं। परियोजना हेतु देश के विभिन्न स्थानों/केंद्रों में मानदेय के आधार पर स्थानीय कार्यकर्ताओं के चयन का कार्य भी शीघ्र प्रारंभ किया जाएगा।

वीरान में मधुमास के सपने

हरदयाल

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता में नन्द चतुर्वेदी एक सुपरिचित नाम है। 'गा, हमारी जिंदगी कुछ गा' उनकी पुरानी कविताओं का नया संग्रह है। 'कविताओं के बारे में' शीर्षक भूमिका के पहले ही वाक्य से हमें पता चलता है कि इस संग्रह की कविताएं पचास से साठ वर्ष पहले लिखी गई थीं, ''अपनी कविताओं के बारे में कुछ भी लिखना बहुत कठिन होता है, तब लगभग दुस्साध्य-सा, जब वे पचास से साठ वर्ष पहले लिखी हों और कवि के लिए भी आश्चर्य जैसी हो गई हों।'' (पृष्ठ 7) अर्थात् इस संग्रह की कविताएं, जब हिंदी में प्रयोगवाद, नई कविता और अकविता आदि का दौर चल रहा था, तब लिखी गई थीं। ये कविताएं पाठकों के लिए इस अर्थ में आश्चर्य जैसी अवश्य लगेंगी कि कवि उस दौर की केंद्रीय काव्य प्रवृत्तियों से लगभग पूरी तरह अछूता रहा है। इसका कारण भी उसकी भूमिका से स्पष्ट है। भूमिका से हमें पता चलता है कि कवि ने ब्रजभाषा में समस्यापूर्ति से कविता लिखना प्रारंभ किया। फिर धीरे-धीरे खड़ी बोली में लिखना प्रारंभ किया और कवि का कवि-सम्मेलनों से जुड़ाव रहा। वह समाजवाद, गांधीवाद आदि से भी प्रभावित हुआ। परिणाम यह हुआ कि वह 'ग्राम-अभ्युदय' की कामनाओं से जुड़ गया और अपनी कविताओं में इसे अभिव्यक्ति देने लगा। उसने अपनी भूमिका में स्पष्ट किया है कि ''इन रचनाओं को पढ़ते हुए लक्षित किया जा सकता है कि ये 'ग्राम्य-अभ्युदय' की कामनाओं से जुड़ी हैं। गांधीजी ने इसी आखिरी आदमी के आशीर्वाद की कामना और इसी आदमी के लिए 'स्वराज्य' की बात की थी। अंग्रेजों ने इसी आदमी को गरिमाविहीन कर दिया था। राष्ट्रनेताओं ने इसी के अर्धनग्न शरीर के लिए सूत काता था।'' (पृष्ठ 10) इस संग्रह की कविताओं के संदर्भ में उसका यह स्पष्टीकरण प्रामाणिक है।

दरअसल इस संग्रह की कविताएं मुक्तक गीत हैं और विभिन्न संचारी भावों और विचारों की कविताएं हैं। फिर भी इन कविताओं का केंद्र खोजा जा सकता है। इस संग्रह में एक कविता है 'तुम जो युग-युग से बंदी हो जीवन के वीरान में'। इस कविता की दो प्रारंभिक पंक्तियां हैं—

तुम जो युग-युग से बंदी हो जीवन के वीरान में,
आओ तुम सबको देता हूं मैं सपने मधुमास के। (पृष्ठ 52)

यही इस संग्रह की कविताओं का केंद्र

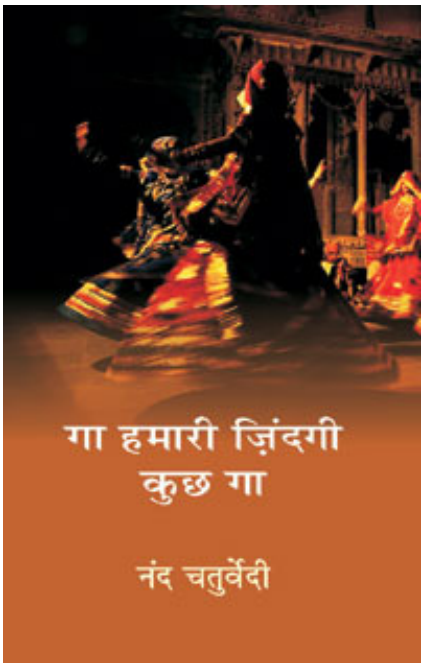

है। इस संग्रह में एक तरफ 'जीवन के वीरान' की अभिव्यक्ति हुई है तो दूसरी तरफ 'मधुमास के सपनों' की; एक तरफ जीवन के यथार्थ का चित्रण है तो दूसरी तरफ उन भावनाओं की अभिव्यक्ति है, जो यथार्थ से कम, सुखद, काल्पनिक अभिलाषाओं से अधिक जुड़ी हैं। यथार्थ से जुड़ी भावनाओं और विचारों में कवि ने सांप्रदायिकता, सत्तासीनों की जनसाधारण के सुख-दुख के प्रति उदासीनता, पूंजीवादी शोषण, किसान और मजदूर की दरिद्रता, प्रजातंत्र में सरमाएदारों की जमती महफिल, आजादी के पहरुओं की मदमत्त होकर कर्त्तव्य के प्रति उदासीनता आदि को अभिव्यक्ति दी है। यथार्थ स्थितियों को लेकर वह निराश है और संग्रह की कई कविताओं में उसकी निराशा ने अभिव्यक्ति पाई है। उदाहरण के लिए, उसकी 'अभी सृष्टि पर आंसू भीगी रात है' कविता की इन पंक्तियों को देखा जा सकता है—

अभी सृष्टि पर आंसू भीगी रात है
तुम कहते मैं गीत लिखूं मधुमास के
मुझको लगता सूनी ब्रज की गैल पर
गोरी राधा का मुखड़ा मुरझा गया
मुझको लगता मनमोहन की वेणु में
आज व्यथा का सरगम जैसे छा गया
मेरी धरती मरती जाती प्यास से
तुम कहते मैं गीत लिखूं आशा के।
(पृष्ठ 29)

निःसंदेह कवि ने जिस यथार्थ को अपनी कविताओं में अभिव्यक्त किया है, वह किसी को भी निराश कर सकता है, लेकिन नंद चतुर्वेदी पूर्णतः निराश नहीं हैं। उन्हें प्रेम मिला है और उन्होंने अपने प्रेमास्पद में भगवान को ही पाया है—

तुम बहारों की सलज मुस्कान शोभित
तुम शरद आकाश की राका नवोदित

अर्चिता, आराधिता मेरे हृदय की
भक्ति का अंतर कहां, भगवान ही हो।
(पृष्ठ 43)

उनमें आस्था है। उन्हें विश्वास है कि विराट तम के उर में दीपशिखा प्रकाश फैलाएगी; जग का जो वैभव शत-शत जिह्वा से हिंसा का अहिफन फैला रहा है, वह मृत्यु-द्वार पर खड़ा है; मरने वाला है; विभेद का दानव निश्चित रूप से झुकेगा और विश्वास एवं स्नेह की मधु झंकारें गूंजेंगी। (पृष्ठ 94) इस आस्था, इस विश्वास का कारण उनका वामपंथी विचारधारा के प्रति झुकाव है। उन्हें विश्वास है कि सर्वहारा की शक्ति जाग गई है और उसकी जनकल्याणी जय होगी—

टूट रही हैं एक-एक कर युग की काराएं पाषाणी,
जागी शक्ति सर्वहारा के जय की फिर से जन-कल्याणी
प्राची की किरणों से जय के गीत लिखे जाते हैं पुलकित
जीवन की भाषा में होतीं नई-नई कलियां अभिसिंचित
जन ईश्वर के चरणों पर चढ़कर ही ये शृंगारित होगी
उठो, तुम्हें शोषित मानवता का आह्वान युग सेनानी। (पृष्ठ 59)

इस उद्धरण में कवि के द्वारा 'सर्वहारा' और 'शोषित मानवता' जैसे शब्दों का प्रयोग हमें इस निष्कर्ष की ओर ले जाता है कि अपने समय विशेष के प्रवाह में सोचे-विचारे बिना बह रहा है। भावना में बहकर ही वह प्रजातंत्र का विरोध कर रहा है—

प्रजातंत्र में खुलकर जमती है सरमाएदारों की महफिल
आजादी के मत्त पहरुए पीकर चौराहे पर गाफिल
हम कहते हैं निभ न पाएगी यह दौलत की साझेदारी
कहां उतर पाती है फिर भी जो आसब की चढ़ी खुमारी (पृष्ठ 75-76)

जिस कविता 'साथी! जीवन के प्रभात में इन्कलाब के गान लिखो तुम' से हमने ये पंक्तियां उद्धृत की हैं, उसे पढ़कर हमारे मन में यह प्रश्न उठता है कि प्रजातंत्र/जनतंत्र का जो राजतंत्र या तानाशाही वाला विकल्प है, क्या वह स्पृहणीय है? जनतंत्र में हम तंत्र के विरोध में अपनी आवाज उठा सकते हैं; अपने चुने हुए प्रतिनिधियों को चुनाव में पराजित कर उन्हें कुर्सी से नीचे गिरा सकते हैं। क्या तानाशाही या राजतांत्रिक व्यवस्थाओं में यह संभव है? जरा अरब देशों और साम्यवादी तानाशाहियों पर दृष्टिपात करें। दरअसल नंद चतुर्वेदी की इस संग्रह की कविताएं रूढ़ स्थितियों के प्रति रूढ़ सोच की रूढ़ प्रतिक्रियाएं हैं। इस संग्रह की कविताओं की सीमा इनकी नियमित छंदोबद्धता भी है। मात्राएं पूरी करने के लिए और अन्त्यानुप्रास मिलाने के लिए उन्हें भाषा के साथ, भावों और विचारों के साथ अनेक स्थानों पर समझौते करने पड़े हैं।

जैसे,

बंधु! तुम्हारे नए स्नेह का आसव ढालो,
दीप जलेगा,
देख रहा हूं दिशा-दिशा में लहराते हैं नभ के बादल
देख रहा हूं आसमान में चांद हुआ रो-रोकर घायल। (पृष्ठ 62)

इस उद्धरण का जब हम विश्लेषण करते हैं, तो कई प्रश्न हमारे सामने उठ खड़े होते हैं। क्या 'तुम्हारे' शब्द का प्रयोग व्याकरण सम्मत है? हमारे विचार से 'अपने' होना चाहिए, लेकिन 'अपने' का प्रयोग करते ही छंदोभंग होगा। वैसे, चतुर्वेदीजी के इस संग्रह में छंदोभंग के उदाहरण भी हमें मिलते हैं। क्या दीपक 'आसव' (मदिरा) से जलाया जाता है? अगर आसमान में दिशा-दिशा से बादल लहरा रहे हैं, फिर वहां चांद कहां से दिखाई देगा? कोई रो-रोकर घायल नहीं होता, घायल हो-होकर रोता है। फिर चांद रो-रोकर घायल कैसे हुआ? इस तरह के प्रश्न उपर्युक्त उद्धरण हमारे मन में छोड़ जाता है।

इसलिए इस संग्रह की कविताओं को पढ़ते समय हमें बराबर लगता रहा है कि ये सामान्य कोटि की कविताएं हैं। इन्हें श्रेष्ठ कविताएं अविचारपूर्वक ही घोषित किया जा सकता है।

गा हमारी जिंदगी कुछ/ नंद चतुर्वेदी/ राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, 1-बी नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-110002/मूल्य : ₹ 150

एच-50, पश्चिमी ज्योतिनगर, पो. गोकुलपुरी, दिल्ली-110094, मो. 09871328269

कविता

अभी थके नहीं हैं हम

वंदना मिश्रा

'अब भी' चंद्रेश्वर का पहला कविता संग्रह है। आत्मीयता एवं ऊष्मा से भरपूर। वे कविताओं को बड़बोलेपन से बचाते ले चलते हैं। कोई बड़ा दावा किए बिना वे मानवीय रिश्तों की ऊर्जा को बचाने की जद्दोजहद करते हैं। चंद्रभूषण तिवारी के लिए लिखी गई कविता पुरानी पीढ़ी के लिए श्रद्धांजलि समझी जा सकती है। हममें से प्रायः सभी ने इस तरह के एक-दो बुजुर्ग अवश्य देखे होंगे, जिनको साहित्य से इतना लगाव है कि वे टार्च की रोशनी में ही सारी रचना पढ़ लेते हैं। वे तारीफ से स्वयं ही दूर नहीं रहते थे, अपने शिष्यों को भी दूर रहने की सलाह देते थे। एक पूर्ण साहित्यिक व्यक्ति की तस्वीर सामने लाते हैं। चंद्रेश्वर लिखते हैं, 'वे बेचैन थे अपने समय में/साहित्य नहीं था उनके लिए कैरियर।' देवी प्रसाद मिश्र की कविता, 'इस तरह उस आदमी ने जो कुछ किया अधूरा/बस उसकी बेचैनी संपूर्ण थी।' याद आती है। जो व्यक्ति समझौतावादी नहीं होगा, ऐसी बेचैनियां उसे विरासत में मिलती हैं। चंद्रभूषणजी की स्मृति में जो कविता लिखी गई, एक ऐसे समय में, जब मुक्तिबोध के शब्दों में लोग गलत जगह समझौते करते हैं, गलत जगह लड़ जाते हैं। चंद्रभूषण तिवारी अलग व्यक्तित्व रखते हैं, ''वे बेझिझक करते थे विरोध/वाजिब जगह पर।'' (पृ. 16)

चंद्रेश्वर हमारी दुनिया से लगातार गायब होती जा रही किताबों तथा उनकी दुकानों के विषय में सोचते हैं। जो किताबें हमें बाजारवाद से बचाने का सर्वश्रेष्ठ विकल्प हैं, उनकी दुकानों का यह हाल है कि, ''मुझे कोई नहीं बता पा रहा था/कि किधर है/इंडियन बुक डिपो।'' (पृ. 19)

अपने बचपन से कटने का मतलब है अपने अतीत से कट जाना, अतः कवि अपनी पुरानी अनुभूतियों को याद करता है और उसे यह जानकर खुशी होती है कि, ''मेरे अंदर अब भी साबुत जिंदा बचा है बचपन।'' (पृ. 26) बचपन का बचा होना साबित करता है कि कवि में अब भी मासूमियत बची है। पुराने रिश्तों के प्रति प्रेम व लगाव बचा रह गया है। यही कारण है कि पुराने हाफ स्वेटर को भी त्यागने में उसे तकलीफ होती है, ''एक दिन तार-तार होना ही है इसे/जैसे-जैसे होती जाती हैं चीजें पुरानी/उनसे बढ़ता ही जाता है/अपनावे का घनत्व।'' (पृ. 31) आज के दौर में स्थायित्व चाहने वाले हर व्यक्ति की तरह वे भी आहत होते हैं। दुकान में स्टीकर लगा देख कि, ''फैशन के इस दौर में/गारंटी की इच्छा न करें।'' वे पुराने के रक्षक हैं। उनसे प्रेम करने वाले हैं। (पृ. 31)

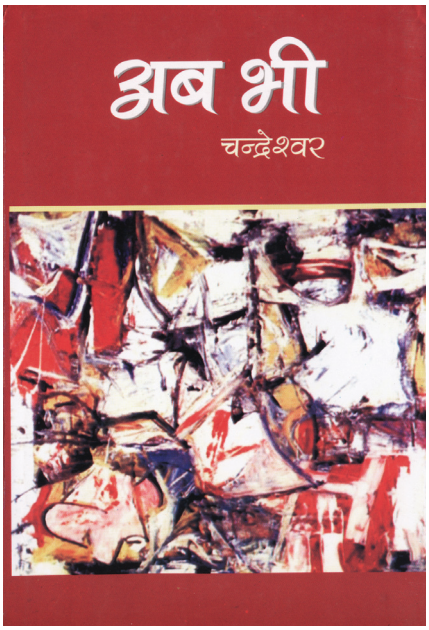

उनकी दीवार घड़ी हमारी पुरानी पीढ़ी की तरह मार्गदर्शक है, जबकि सबके पास हैं कलाई घड़ियां/मोबाइल भी/फिर भी यूं बंद होना उसका/बना रहा सबको कुछ अस्त-व्यस्त।'' (पृ. 32)

चंद्रेश्वर के यहां पुराने लोगों, पुराने रिश्तों से बेहद लगाव है। वे संवेदना के, स्नेह के प्रतीक हैं। हमारी छीजती जा रही भावुकता का तोड़ है इनके पास। स्त्री के लिए मायका उसका अतीत होता है। कवि महसूस करते हैं कि परंपरा पालन व कर्तव्य से बंधी स्त्री भले ही पूरा जीवन काट दे ससुराल में, परंतु उसकी जड़ें उसे निरंतर पुकारती हैं, 'मुझे ले चलो' कविता यही भाव व्यक्त करती है—मेरा मन बसता है नइहर में/मैं सो नहीं सकी हूं, कई-कई साल/ससुराल में/...मुझे ले चलो कि मैं चूम लूं नइहर की माटी और अंकवार में भर लूं मां को/...क्या पता भेंट हो जाए अचानक सखियों से।'' (पृ. 38) परंपरा की रक्षा का दायित्व है तो सिर्फ स्त्रियों के पास, वे मांगती है तो दूसरों के लिए, 'क्या मांगती होगी...घर का सुख/...कच्चे धागे में बांध देना चाहती होगी/अपने सारे दुख।'' (पृ. 40)

परिवार के लिए त्याग करती स्त्री, उसकी व्यवस्था बनाती स्त्री, कभी-कभी खुद अव्यवस्थित होती जाती है। वह मुक्ति चाहती है। पति उसकी फाइलों को गुम कर देता है, जिसमें उसके प्राण बसते हैं—कुछ भी नहीं है तरतीब से/जैसे उसकी याद्दाश्त।'' (पृ. 41) स्त्री का घर कहां, यह प्रश्न लगातार चला आ रहा है; इसका उत्तर इस आधुनिक समय में भी मिलता नहीं है और घर की परिभाषा आज भी स्त्री के लिए उतनी ही मोहक है, जैसे प्राचीनकाल में थी। आर्थिक रूप से

स्वतंत्र स्त्री भी एक सहारा देने वाला पुरुष चाहती है, ''स्त्री इस उत्तर आधुनिक समय में भी चाहती है/एक ऐसा प्रेमी/...जो उठा ले स्त्री को अपनी हथेली पर/...(पृ. 4)

परिवर्तन के बड़े-बड़े दावे न करके भी उनकी कविता प्रश्नाकुल है। यह स्थिति कहीं-कहीं तो निराशा से भर भी देती है, पर विद्यानिवासजी के शब्दों में कहें तो 'दीन हंसी से शानदार उदासी गर्व करने की वस्तु है।' चंद्रेश्वर समाज को बदलने में लगे लोगों के साथ चुपचाप से जुड़ जाते हैं। उनकी हार पर दुखी होते हैं, निराश होते हैं और हमें अपने साथ जोड़ लेते हैं, क्योंकि बिना संगठन के कुछ हो नहीं सकता, ''अकेले क्या कर लेंगे प्रो. त्रिपाठी/वे अपनी नैतिकता का डाल लें अचार या बजाएं उसे झुनझुने की तरह।'' (पृ. 54)

उनके यहां आशा के रंग भी कम नहीं हैं। केवल यादव मिलिट्री से रिटायर होकर गांव पहुंचता है तथा खुद खरीद कर जनेऊ पहन लेता है। जिसके मां-बाप ने कभी चूं नहीं की, उसका यह विद्रोह बहुत है, ''मनुवाद की पथरीली जमीन पर खींच दी है उसने/लकीर/यही क्या कम है।'' कवि कविता के भविष्य पर चिंता व्यक्त करता है। उस युग से तुलना करते हैं, जिसमें राजाश्रय मिलता था उन्हें। उन लोगों पर व्यंग्य करते हैं, जो कविता में छंद व तुक न होने की बात का रोना रोते हैं, जिनके लिए कविता दूसरे लोक की रचना है। सीधी बात सीधे शब्दों में कहती कविता उन्हें अच्छी नहीं लगती। ऐसे लोगों के लिए कविता पता नहीं किस उद्देश्य के लिए लिखी जाती है—हे समकालीन कवियो/यह कैसी कविताई है/न तुक, न छंद, न स्वर, न संगीत ही।'' (पृ. 87) ऐसे लोग (कवि) जो तमाम पुरस्कार पा रहे हैं, परंतु जनता से दूर हैं, क्या सच्चे कवि हैं, ''हालांकि उनके काव्य संकलनों के पन्नों पर/पाठकों की उंगलियों के/निशान नहीं थे।'' (पृ. 85) मार्मिक व्यंग्य है यह।

हमारे युग के नायक और खलनायक दोनों एक से चेहरे वाले लगते हैं, क्योंकि नायकों के वेश में हत्यारे घूम रहे हैं और उन्हें वरदहस्त मिला है तथाकथित सज्जनों का, ''नायक की तरह दिखते हैं हत्यारे/हत्यारों

को प्राप्त है/सज्जनों का आशीर्वाद।'' (पृ. 96) सही जगह विरोध दर्ज कराने का साहस खत्म हो चुका है लोगों में, किसने किया यह सब, ''किसने/किसने पैदा किया/इतना भय/कि वाजिब विरोध कर सकने का भी/जुटा नहीं पाया साहस।'' (पृ. 99) उनकी 'वे' कविता बढ़ते बाजारवाद पर पैनी नजर डालती है। हमारी जरूरतें बाजार की मोहताज हो गई हैं—अब/वे ही बताएंगे/हमारी पसंद के बारे में/...हमारी एक-एक जरूरतों/पर रखेंगे वे/अपनी निगाह।'' (पृ. 103) वे बदलते समय से प्रसन्न हो सकें ऐसा लगता नहीं, क्योंकि यह बदलाव सार्थक नहीं लगता, ''खोटे सिक्कों से पटा पड़ा है बाजार/छल भरी मुद्राओं और मुहावरों से ढकी पड़ी है भाषा।'' (पृ. 105) इतनी व्यवस्था है, इतनी प्लानिंग कि आत्मीयता चुक जाती है। दिल खोलकर मित्रों से भी बात नहीं की जा सकती, ''मतलब से मतलब रखना था/करना था सब काम प्लानिंग से।'' (पृ. 107)

हमारे युग की सबसे बड़ी सच्चाई यह है कि हम भी संवेदना से शून्य होते जा रहे हैं। इस तथ्य को पहचानता है कवि। जिस कमरे में पहले रहते थे वे, उसे देखकर उतने भावुक नहीं होते। जितना सोचते थे, मकान मालिक तो उस तरह नहीं ही मिलता, जैसा सोचा था, ''जिसमें रह रहे थे हम हो नहीं पाए भावुक/उस तरह/जिस तरह सोचा करते थे हम।'' (पृ. 109)

इस भागदौड़ में हम सोचते जरूर हैं कि जहां पहुंचे हैं, क्या यह वही जगह है, जहां पहुंचने के लिए इतना प्रयास किया हमने? लेकिन यह निराशावाद नहीं है—अभी थके नहीं हैं हम...'' आशा का स्वर कितना जीवंत, ''बच्चों की निर्दोष हरकतें, किलकारियां... उमंगें/इस खराब मौसम को भी बदल रही हैं। बसंत में।'' (पृ. 73)

अब भी/चंद्रेश्वर/उद्‌भावना, ए-21, झिलमिल इंडस्ट्रियल एरिया, जी.टी. रोड, शाहदरा, दिल्ली-110095/मूल्य : ₹ 75

वरिष्ठ प्रवक्ता (हिंदी) जी.डी.बिनानी पी.जी.कॉलेज, मिर्जापुर, मो. 09415876779

कविता

समय के साथ एक सार्थक संवाद

विनोद तिवारी

ए. अरविंदाक्षन हिंदी और मलयालम के जितने गंभीर और विचारवान आलोचक हैं, कविता में उतने ही सहज-संवेदी और मर्मस्पर्शी कवि। अब तक उनकी कविताओं के पांच संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। यह (असंख्य ध्वनियों के बीच) उनका छठवां संग्रह है। अपने समय के साथ एक कवि-मन का रिश्ता किस तरह बिगड़ते-बनते-बनते-बिगड़ते चलता रहता है, इस संग्रह में इसी अनुभव-संसार की असंख्य ध्वनियां सुनाई पड़ती हैं। निपट 'वर्तमान' इस संग्रह की कविताओं का रचित सच है और जब एक कवि 'समय' के सच के साथ इस 'वर्तमान' को रचने की प्रक्रिया में होता है तो वह वर्तमान निपट वर्तमान न होकर कवि-समय और काव्य-समय के बीच एक सार्थक संवाद से निष्पन्न वर्तमान हो जाता है, जिसमें दृष्टि तो वर्तमान पर होती है, पर चिंता भविष्य की होती है। इस संग्रह की प्रायः सभी कविताएं इसी चिंता और उनसे मुक्त होने की चाह में सोच-विचार और जिरह करते अपने समय में निरंतर चलते एक कवि की संवेदनाओं का शब्दकृत रूप हैं। कवि की नाउम्मीदी में जयजयवंती राग। आस्था का यह जयजयवंती राग ही कवि की भाव-प्रेरणा को बारंबार दुःख, उद्विग्नता, निराशा, वैकल्य, आत्मालोचन और युयुत्सुजन्य नकारों से निकालकर इस विश्वास की ओर ले जाता है कि—

कविता बस एक उम्मीद है
एक बड़ी सी उम्मीद
इस विशाल देश की।

मुक्तिबोध कविता को एक सांस्कृतिक प्रक्रिया मानते थे। संस्कृतीकरण की इस प्रक्रिया में 'धर्म' का उतना महत्त्व नहीं, जितना कि 'युगधर्म' का। भारत में ही नहीं, विश्व की सभी प्राचीन संस्कृतियों में 'धर्म' को संस्कृति का संवाहक और नियामक दोनों माना गया, पर कविता ने संस्कृति को सदैव उसके बदलते युगधर्म के अनुरूप समझने और सामूहिक मनोवृत्ति में रचने का प्रयास किया। सामूहिक मनोवृत्ति का यह रचनात्मक प्रयास ही काव्य का उत्स है। 'असंख्य ध्वनियों के बीच' का कवि संस्कृति के इस बदलते युगधर्म को मूल्यगत उपलब्धियों के बरक्स जांचता-परखता है। कविता में यह जांच-परख दरअसल, सांस्कृतिक अनुभव और उसके सर्जनात्मक मूल्यबोध की जांच-परख होती है। अंतरराष्ट्रीय राजनीति, वैश्वीकरण, बाजारवाद, भाषा, युद्धनीति, यांत्रिकता, जल, जमीन, पेड़ सबकुछ को कवि बदलती

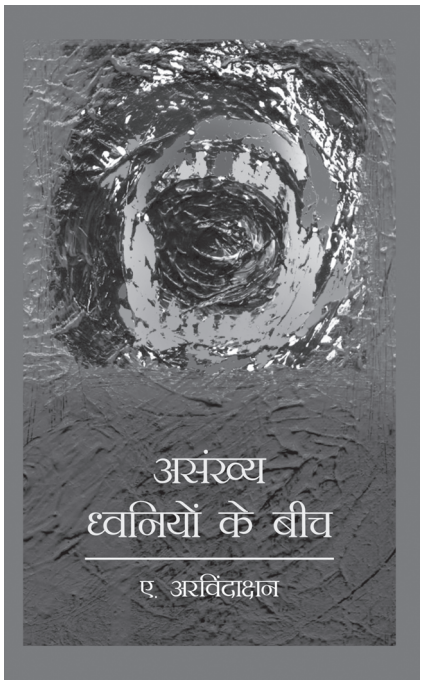

निरर्थ-अर्थ छवियों में पहचानने की कोशिश करता है। क्षोभ और निराशा से भर उठता है। इस संग्रह की पहली ही कविता है 'भद्रपुरुष'। यह कविता 'जेंटिलमैन' की अर्थवत्ता को जिस समसामयिक मुहावरे में खोलती है, वह मध्यवर्ग के दिवालिएपन का और उसकी चाटुकारिता का अद्भुत पाठ है—

तुम्हारे तन-मन को उसने ग्रस लिया है,
एक मामूली तवायफ जैसी वह तुमसे
लिपटी हुई है।
कैसी बात कर रहे हो, यह भी कोई
कहने का ढंग है कि
पहले भद्रपुरुष, फिर तवायफ!
हां तुम उसमें डूबे हुए और तुम्हारी
हरकतें सचमुच शर्मनाक हैं
तुम अपने इतिहास के साथ थे जिसका
उसने हमेशा के लिए
सफाया कर दिया है
तुम अपनी मिट्टी के साथ थे जिसको
उसने अंधेरे तहखाने में
बंद कर दिया है
तुम अपने पानी के साथ थे जिसको
उसने अपनी बड़ी—
बड़ी जीभों से
सोख लिया है
तुम अपनी मेधा के साथ थे
जिसको उसने कम दाम में खरीद
लिया है

विजयदेव नारायण साही की एक कविता है 'हम सभी बेचकर आए हैं सपने।' 'नई कविता' पत्रिका के अंक-2 में यह कविता छपी थी। उपनिवेशवाद, पूंजीवाद और अंग्रेजी साम्राज्यवाद के छलावे में हमने क्या-क्या खो दिया, अपनी सांस्कृतिक अस्मिता और स्वाभिमान का हमने कैसे सौदा किया, साही

इसे एक 'ऐतिहासिक' प्रश्न के रूप में कविता के सहारे खड़ा करते हैं। आज जब उत्तर-औपनिवेशिक और साम्राज्यवादी व्यापार-बाजार की नीतियां इस कदर फायदे और सिर्फ फायदे का गणित-शास्त्र बनकर रह गईं, जिसमें बिकने और खरीदने वाले दोनों की पहचान अस्पष्ट हो गई है, एक कवि की दृष्टि में यह अस्पष्टता अगर कोई स्पष्ट आकार लेती हुई धुंधली आकृति के रूप में ही सामने आती है तो भी—

हमें भरोसा होना चाहिए
हम अपने साथियों को खोज निकालने में सफल होंगे
उसके बाद डूबते जहाज को भी हम बचा पाएंगे।

कविता में यदि यह भरोसा अभी कायम है तो साहित्य और अन्य कलाओं की जरूरत अभी बनी रहेगी। ग्लोबलाइजेशन और सूचना-क्रांति के उबाऊ यथार्थ-लोक से कविता का यह आशावादी कल्पना-लोक एक कवि के लिए दुनिया की बेहतरी का सबसे सशक्त उपकरण है। सांद्र रचनात्मक संवेदन और उससे निर्मित काव्य-दृष्टि का सूक्ष्म पर्यवेक्षण अरविंदाक्षन की कविताओं का सबसे बड़ा गुण-धर्म है। संवेदन के विभिन्न स्तरों पर जिस सूक्ष्मता के साथ वे समय की चाल और उसके निहितार्थों को पकड़ते हैं, वह अत्यंत ही अचूक होता है। एक कवि यदि अपने सांस्कृतिक उपकरणों को भागते हुए खाली, निरर्थ समय की नब्ज के साथ जोड़ देता है तो वह समय कवि के परीक्षण की परिधि में रहता है। सांप पर हिंदी में अनगिनत कथा कहानियां व कविताएं हैं। अलग-अलग प्रतीकों, बिंबों के साथ। अरविंदाक्षन के यहां भी 'पनियल-सांप' का एक बिंब आता है—

कहते हैं
पनियल सांप मामूली जल-जीव है
उससे डरने की जरूरत नहीं।
कहते हैं
विदेशों के पनियल सांप जहरीले होते हैं
वे तालाबों में नहीं, समंदर में जीते हैं
उनका अनुराग पर भरोसा नहीं
वे जहर फैलाने में मशगूल रहते हैं।

कविता में अचानक कवि को राजा परीक्षित की कहानी याद आती है। कैसे काल बनकर सर्प, सारी सुरक्षा-संरक्षा को धता बताते हुए राजा परीक्षित को अपने विष के प्रभाव से मृत्यु तक पहुंचाता है। इस मिथकीय निहितार्थ का 'तक्षक' रूपी बाजारवाद क्या तरह-तरह के छल-छद्मों के सहारे हमारी जातीय सांस्कृतिक अस्मिता को नहीं डंस रहा है। ऐसे में कवि की यह प्रश्नाकुलता कि, 'तो क्या/पनियल सांपों का स्नानागार में प्रकट होना मुश्किल है?' एकदम जायज लगती है।

सांद्र रचनात्मक पर्यवेक्षण अरविंदाक्षन के कवि स्वभाव का महत्त्वपूर्ण पक्ष है। संवेदन के विविध स्तरों को देश-काल से संबद्ध करता हुआ कवि 'एक ओर जहां काव्य-भावों और विभावों से संपृक्त होता है, वहीं दूसरी ओर आलोचनात्मक-अवलोकन से सचेत और सजग रहता है। ये दोनों मिलकर एक कवि के काव्य-विवेक का निर्माण करते हैं। अरविंदाक्षन कविता को कलात्मक उत्कर्ष का माध्यम उतना नहीं मानते, जितना समकालीन, समसामयिक जीवन-चिंताओं से उभरने वाली मानवीय सभ्यता और संस्कृति के प्रश्नों को। 'सूरज समय के रथ पर सवार है', 'इतिहास का इतिहास', 'एक मामूली भारतीय नागरिक की बेचैनी', 'नदियों का पलायन', 'पेरियार का पानी', 'एक पत्र बेटे का पिता के नाम' इत्यादि कविताएं इन्हीं जीवन-चिंताओं की निर्मिति हैं। एक जवान बेटा अत्यंत तीव्र गति से बदल रहे वैश्विक परिदृश्य को, उसके यांत्रिक आधार को, विकसित होती अमानवीय, संवेदनहीन यांत्रिक सभ्यता के मारक मोहपाश से मुक्ति की पीड़ा का बयान पत्र के द्वारा कुछ इस तरह कर रहा है—

संगणकों के विशाल संजाल में
या उनके निगूढ़ रहस्यों में
मेरा समय
अर्थ खो रहा है
इनके चमत्कार
हैं अद्‌भुत
पिताजी,
मेरा अंतर्मन कह रहा है
ये हमें खा जाएंगे

प्रकृति के विनाश का जो नंगा पूंजीवादी ढंग चल रहा है, उसके दुष्परिणामों को कवि मानव-सभ्यता के लिए अत्यंत विनाशकारी मानता है। पर्यावरण की चिंता इस कवि की मूल चिंता है। पेड़ पर, नदियों पर, उनके व्यवसाय पर जो चिंता कवि की है, वह हिंदी

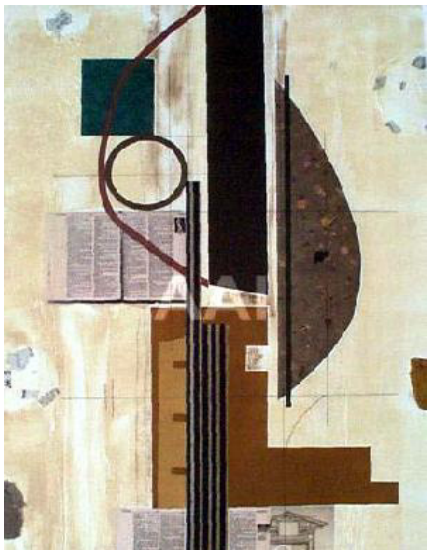

'काव्य-समय' की चिंता अभी नहीं दिखती। सुनामी पर इस संग्रह में 5 कविताएं हैं। इन पांचों कविताओं में एक ओर जहां प्रकृति की विनाशक शक्तियों का प्रतिबिंबन है, वहीं दूसरी ओर काव्यगत प्रतीकात्मकता में मनुष्य के विकारों और प्रवृत्तियों का संकेतन भी है।

इस संग्रह की कई कविताओं को पढ़कर ऐसा लग सकता है कि ये मानसिक द्रवण के उत्कर्ष-क्षणों की अभिव्यक्ति हैं, यह हैं, पर इसे कवि की स्वभावोक्ति के रूप में ही पढ़ा जाना चाहिए। निराला कविता में उक्तिवैचित्र्य को उतना महत्त्वपूर्ण नहीं मानते थे, वे स्वभावोक्ति को ही काव्य-संवेदन का महत्त्वपूर्ण गुण मानते थे।

अरविंदाक्षन का अपनी काव्य-प्रतिभा और महानता को लेकर कोई दावा नहीं है। असंख्य ध्वनियों के बीच यह काव्य-संवेदन ही उन्हें अपने समय-समाज से संवाद करने की प्रेरणा देता है। अज्ञेय की पंक्तियां हैं—

यों मैं कवि हूं, आधुनिक हूं, नया हूं
काव्य-तत्व की खोज में कहां नहीं गया हूं?
चाहता हूं आप मुझे
एक-एक शब्द पर सराहते हुए पढ़ें
पर प्रतिभा—अरे! वह तो
जैसी आपको रुचे आप स्वयं गढ़ें।

असंख्य ध्वनियों के बीच/ए.अरविंदाक्षन/विजया बुक्स, 1/10753, स्ट्रीट नं. 3, सुभाष मार्ग, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032/मूल्य : ₹ 195

हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110007, मो. 9560236569

दैनंदिन जीवन के अनुभव से उपजी कविताएं

क्षमाशंकर पांडेय

कविता के लिए यह एक कठिन समय है। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि सर्जक और पाठक या श्रोता, दोनों ही बहुत जल्दी में हैं। सर्जक अमरता की दौड़ में शामिल होकर तत्काल पंक्तिय होना चाहता है और पाठक फास्ट-फूड की तरह कविता का भी स्वाद लेना चाहता है, जबकि कविता की रचना और आस्वाद, दोनों ही समय की मांग करते हैं। अनुभूति को अभिव्यक्ति में बदलने तक की पूरी प्रक्रिया फल के पकने की प्रक्रिया है। दुर्भाग्यवश आज इतना धैर्य किसी के पास नहीं है। एक दूसरा कारण यह भी है कि विभिन्न स्तरों पर, तरह-तरह से हमें स्मृतिहीन करने का प्रयास चल रहा है। स्मृतिहीनता की स्थिति में होने वाली कविता यांत्रिक रूप से चाहे जितनी सुगठित और नक्श-कोर दुरुस्त हो जाए, उसमें से आत्मीयता का तत्व गायब रहेगा। आत्मीयता के अभाव में कविता कैसी होगी, यह अलग से बताने की आवश्यकता नहीं है। आज फैशन और चलन के नाम पर सांचों में गढ़ी जैसी कविताएं आ रही हैं, उनमें निजता का तत्व गायब है। ये साहित्यिक उत्पाद तो कही जा सकती हैं, सृजन कदापि नहीं। फार्मूलेबाजी से सृजन होता भी नहीं। ऊपर से कोढ़ में खाज यह कि यदि आप खास तरह और खास विचार की कविता नहीं लिख रहे हैं तो आलोचना के नक्कारखाने में आपकी आवाज तूती भी नहीं बन पाएगी। ऐसे माहौल में तख्तोताज प्रकाशन, इलाहाबाद से प्रकाशित कवि विवेक सत्यांशु का काव्य संग्रह 'मैं जीवित रहूंगा' आश्वस्तिकारक है। संग्रह की अधिकांश कविताएं अंडरटोन में अपनी बात कहती हैं, और पाठक की संवेदना को स्पर्श ही नहीं करतीं, झकझोरती भी हैं।

विवेक सत्यांशु के कविता संकलन 'मैं जीवित रहूंगा' में कुल छप्पन पृष्ठों में छोटी बड़ी सैंतालिस कविताएं संकलित हैं। इन कविताओं की सबसे बड़ी ताकत इनमें दूर की कौड़ी लाने का प्रयास न होना है। इसके विपरीत जीवन के दैनंदिन अनुभवों से कविता की गई है। कवि के अनुभव वृत्त में शहर या कस्बे का जीवन, उसकी घटनाएं और विडंबनाएं अधिक हैं। स्मृति की आवाजाही में 'बिसाती' जैसी एकाध कविताएं अपवाद हैं, जो गांव और गांव की पगडंडियों तक जाती हैं। पारिवारिक रिश्तों से जुड़ी कविताएं यथा मां, पिता, लड़की, लड़की का पिता

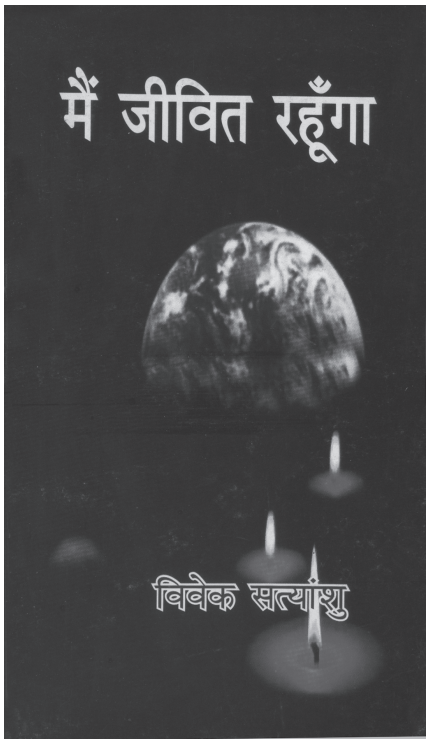

उस ताप को बचाने और महसूसने का प्रयास हैं, जो क्रमशः रीत रहा है। परिवेश से जुड़ी कविताओं ने भी अच्छा खासा स्थान लिया है। इस तरह विषय की दृष्टि से विविधापूर्ण होने पर भी उसकी परिधि बहुत विस्तृत नहीं है। इसका कारण कवि की कविता कम, कृति का आकार अधिक है। हां यह अवश्य कहा जा सकता है कि बहुलांश में उत्तम पुरुष की ये कविताएं विषय की दृष्टि से आत्मीयता की उष्मा से भरी हैं। कवि की इस निजता के दायरे में परिवार और रिश्ते तो हैं ही, कुत्ते, प्रकृति, बिस्तर, धागा, मौत, चित्रकार, सड़क और कर्फ्यू, सब समाहित हैं। कवि के लिए कविता केवल बैठे ठाले का काम नहीं है, प्रत्युत वह जीवन के क्रिया व्यापार एवं अनुभव से जुड़ा हुआ राग है। शायद यही कारण है कि तमाम मारक स्थितियों, जिनमें व्यवस्था, समाज, पूंजी और जाने कितने कारक जुड़े हुए हैं, कवि संकलन की शीर्षक कविता में कहता है। 'मैं जीवित रहूंगा'। यह जीवित रहना भी मात्र सदेह जीवित रहने की जिद नहीं है, बल्कि चूल्हे की आग की तरह, जुगनूं की तरह या प्रेम और बसंत की तरह जीवित रहने का आग्रह एवं संकल्प है। दरअसल यह कविता विषय की दृष्टि से संकलन की अधिकांश कविताओं का ब्लूप्रिंट है। इसके विस्तार में चेतना, सृजन, प्रतिरोध, प्रेम और परिवर्तन जैसी चीजें अनुस्यूत हैं, जो विभिन्न शीर्षकों में आकार पाती रही हैं।

विवेक के संकलन की कविताओं का भाव जगत आयातित नहीं, बल्कि हमारे-आपके आसपास का संसार है। एक कविता औरत को लेकर है। घर से बाहर निकलकर सेल्स गर्ल के रूप में दरवाजा खटखटा कर

सामान खरीदने का आग्रह करती औरतों पर यह विरल कविता है, जहां कवि के लिए उनका रूप नहीं, कर्म सौंदर्य कहने की चीज है और वह कहता है—

अपमानित किए जाने के
बावजूद घर-घर जातीं
अपनी कमजोर मुट्ठियों से
दरवाजा खटखटातीं
ये बेहद विनम्र औरतें
इस कठिन दोपहर में
मशाल जलाती हैं।''

यहां मशाल जलाने का प्रयोग चौंकाता है, क्योंकि मशाल अंधेरे में जलाई जाती है, दोपहर दिन में नहीं, पर कवि का आशय उन स्त्रियों के संदर्भ में शायद यह है कि औरों के लिए प्रकाश से भरी दोपहर भी, उन औरतों के लिए अंधेरी है, क्योंकि औरत के लिए प्रकाश की किरण उसके श्रम से फूटती है, किसी और का प्रकाश उनका अपना प्रकाश नहीं होता। संकलन की एक कविता 'बिसाती' स्मृति और संवेदना के ताने-बाने से बुनी कविता है, क्योंकि बिसाती भी अब लगभग दुर्लभ हो चले हैं, साथ ही एक बात खटकती है कि चूड़ी और फैशन की सामग्री गांवों में बेचने वाले मनिहार होते हैं, बिसाती नहीं। कविता संग्रह में गांव की स्मृति में रची प्रायः एक ही कविता है, पर बदलते ग्रामीण यथार्थ का चेहरा यह है कि अब सड़क ही नहीं, पगडंडियां भी सुरक्षित नहीं हैं। कवि का यह पहला संग्रह है। इसमें संभावनाएं तो बहुत हैं, पर भविष्य में सतर्क रहना होगा। हर संवेदना और हर बयान कविता नहीं होता। ऐसे में सतर्क होकर आगे बढ़ने की आवश्यकता है। कविताओं में दृष्टि और संवेदना का पैनापन रेखांकित किए जाने योग्य है। यथा 'कुत्ते' शीर्षक कविता का अंश कि—

आज के जमाने में,
कुत्ते का भौंकना
आदमी के भौंकने से
ज्यादा अहमियत रखता है।

नगर, जो प्रायः संघर्षों और दुःखों का साक्षी बनता जा रहा है, वहां सुबह मजदूर के लिए केवल जागरण की बेला नहीं होती और न ही अब अद्भुत प्राकृतिक रंगों से सजा समय होता है। जिंदगी जो अपने

आपमें एक कविता है, उसका एक अलग राग बजता है, जिसे शहर शीर्षक कविता में पहचानते हुए कवि लिखता है—

हमारे कांपते से शहर में
सुबह एक नया सौंदर्य
नहीं होती
ताजी उमंग नहीं होती
लोगों के सुबह की खुशी
वेदना के घाव
मजदूरों के घिघियाते शब्दों
हत्या और लूट की
खबरों से होती है।

कवि एक ओर जहां अपनी निजी संवेदनाओं को अभिव्यक्ति देता है, वहीं सामाजिक विसंगतियां एवं विडंबनाएं उसकी कविताओं का कथ्य बनी हैं। कहीं वह द्रष्टा है, कहीं भोक्ता है। 'पुस्तक विमोचन' कविता साहित्य के शक्तिशाली लोगों की पूंजी बनते जाने की कथा है, जिसमें और चाहे कुछ हो, साहित्य नहीं होता। कवि यशःप्रार्थी ऐसे लोगों से साहित्य तो समृद्ध नहीं होता; पर साहित्यिक कचरा जरूर बढ़ता है। कवि की तीक्ष्ण दृष्टि इस द्वंद्व को बड़े सटीक ढंग से पहचानती है।

समग्रतः यह कहा जा सकता है कि निजता और जीवन के ताप से संयुक्त 'मैं जीवित रहूंगा' की कविताएं जीवन के रोजमर्रा अनुभव से उपजी कविताएं हैं। इनमें कविता के शिल्प में प्रचलित फैशन और बिंबों तथा चित्र छवियों से हटकर सहज और सटीक ढंग से जीवन के यथार्थ को अभिव्यक्ति करने का प्रयास किया गया है। जीवन के संघर्ष और अनुभव से उपजी ये कविताएं एक बड़ी संभावना की ओर संकेत करती हैं।

मैं जीवित रहूंगा/विवेक सत्यांशु/तख्तोताज प्रकाशन, 104 बी, मालवीय रोड, जॉर्ज टाउन, इलाहाबाद/ मूल्य : ₹ 75 (पेपरबैक)

एसोसिएट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिंदी-विभाग, काशी नरेश राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, ज्ञानपुर, संत रविदास नगर, भदोही (उ.प्र.)

फिर फिर नागार्जुन

भारत यायावर

यह दुर्लभ संयोग है कि 2010-2011 में हिन्दी साहित्य के अनेक निर्माता लेखकों की जन्म-शताब्दियां बड़े ही धूमधाम से मनाई जा रही हैं। राधाकृष्ण, भुवनेश्वर, उपेन्द्रनाथ अश्क, शमशेर बहादुर सिंह, अज्ञेय, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, गोपाल सिंह नेपाली, आरसी प्रसाद सिंह, भगवतशरण उपाध्याय आदि का शताब्दी-स्मरण करते हुए कई पत्रिकाओं ने उन पर विशेषांक निकाले हैं, कुछ पत्रिकाओं में इन रचनाकारों पर विशेष सामग्री दी गई है। हिंदी के ये सभी निर्माता-साहित्यकार अपने अलग-अलग व्यक्तित्व एवं रचना-वैशिष्ट्य से अपनी स्वतंत्र पहचान निर्मित करते हैं। सबका अपना अलग रंग एवं ढंग है और सम्मोहन है। अगले वर्ष 2012 में महान आलोचक और अनुसंधाता रामविलास शर्मा का शताब्दी-वर्ष है। ये सभी छायावादोत्तर रचनाकार हैं, जिन्होंने कविता, कथा-साहित्य, नाटक और आलोचना-विधा में नए प्रतिमान निर्मित किए हैं।

इनमें अज्ञेय और नागार्जुन दो ऐसे ऐतिहासिक महत्त्व के रचनाकार रहे हैं, जिनके व्यक्तित्व का व्यापक असर हिन्दी साहित्य पर पड़ा। दोनों घुमक्कड़ हैं। अज्ञेय के साथ 'यायावर' शब्द जुड़ा है तो नागार्जुन के साथ 'यात्री'। दोनों को विलोम व्यक्तित्व का पुरोधा माना जाता है, किंतु दोनों में कई बातें समान हैं। दोनों ने कथा-साहित्य और कविता के क्षेत्र में अविस्मरणीय योगदान दिया है। दोनों ने जेल की यातनाएं भोगी थीं। दोनों के देशभर के अनेक रचनाकारों से संबंध एवं संवाद थे। दोनों के व्यक्तित्व में तरलता थी। दोनों अपने समकालीन ही नहीं, पूर्वज साहित्यकारों के विषय में भी आदर रखते थे, किंतु कविता में अनेक प्रयोग करने के बावजूद अज्ञेय का कवि मौन, मितकथन, आत्मवादी, आध्यात्मिक और मननशील है। इससे ठीक उलट नागार्जुन की कविताओं में अनगढ़पन, बौड़मपन, तीखापन, भंजकपन, भदेसपन है। वह बहुत अधिक बोलने वाली कविता है। कुछ भी गोपन रखने वाली नहीं, सब कुछ प्रकट कर देने वाली है। नागार्जुन की कविता प्रकट होकर विकट हो जाती है। वह अपने प्रवाह में इतनी गतिशील है कि सब कुछ को तोड़फोड़ कर, चकनाचूर कर बहा ले जाती है। प्रकृति की विनाश लीला पर कवि रोता नहीं है, बल्कि झूम-झूमकर गाता है—''ता-ता थैया, ता-ता थैया, नाचो-नाचो कोशी मैया!'' वह सत्ता के तिलिस्म के भीतर घुसकर उसे बेनकाब ही नहीं, नंगा करके खुश होता है। वह हर संघर्ष में शामिल होता है, फिर उससे असंतुष्ट होकर अलग हो जाता है। चलता है कुछ दूर तक हर राहरौ के साथ, पहचानकर हर राहबर को दूर हट जाता है।

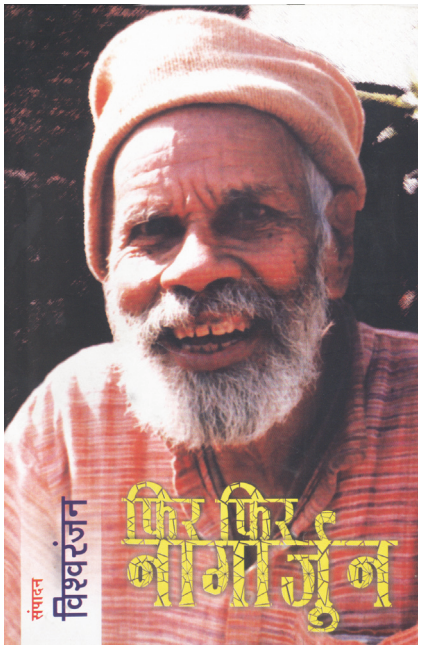

नागार्जुन एक ऐसा औघड़ कवि है, जो न कभी एक घाट पर रहा, न एक ही जगह पर बसेरा किया, न एक ही भाव-बोध में स्थिर रहा, बस दिन-रात चलता रहा। एक अनथक यात्री। नामवर सिंह ने अपनी 'दूसरी परंपरा की खोज' नागार्जुन को इन शब्दों के साथ समर्पित की है—हजारीप्रसाद द्विवेदी के नामराशि और समानधर्मा फक्कड़, आधुनिक कबीर, नागार्जुन को, सत्तर पार करने पर।'' और अब देखिए, देखते-ही-देखते, नागार्जुन सौ पार कर गए। वे फिर-फिर दिखाई पड़ते हैं—यहां-वहां घूमते हुए। किसी नवयुवक कवि से रसभरी बातें करते हुए। नामवर जी ने हजारीप्रसाद द्विवेदी की चार पंक्तियों को उद्धृत किया है, वह नागार्जुन के व्यक्तित्व पर भी पूरी तरह लागू होता है—

''रजनी दिन नित्य चला ही किया,
मैं अनंत की गोद में खेला हुआ,
चिरकाल न वास कहीं भी किया,
किसी आंधी से नित्य धकेला हुआ
न थका, न रुका, न हटा, न झुका,
किसी फक्कड़ बाबा का चेला हुआ
मद चूता रहा, तन मस्त बना,
अलबेला मैं ऐसा अकेला हुआ।''

हजारी प्रसाद द्विवेदी रवींद्रनाथ के चेला थे तो नागार्जुन रवींद्र से भी बड़े फक्कड़ राहुल के चेला हुए। उन्होंने अनेक पंथों को अपनाया और निर्ममता से उसे धकिया कर मुक्त हो गए। वे अपनी धरती से, साधारण जन से जितना राग करते थे, उतना ही उनमें विराग-भाव था। वे कहीं बंधे नहीं, रुके नहीं, झुके नहीं, थके नहीं। अपनी कमजोर काया में वे तूफान समेटे रहते थे। ढोंगियों, छल-छद्मों

के प्रति उनमें तीव्र आक्रोश था। वे काल में जीते हुए, उससे जूझते हुए उसका अतिक्रमण करते थे। ऐसे क्रांतिकारी व्यक्तित्व का समग्रता में आकलन करने वाली साढ़े छह सौ पृष्ठों की वृहत् पुस्तक—'फिर फिर नागार्जुन' का संपादन किया है विश्वरंजन ने। उनका 'पूर्वकथन' ध्यान से सुनने और गुनने योग्य है—बाबा नागार्जुन अर्थात् धारा-तट-मुक्त, सतत् गतिशील, अलीक और अन्यतम कविता की निर्मल नदी। नदी भी ऐसी कि जाने कितने घाट, जाने कितने ठाठ। हर घाट पर नया ठाठ। नितांत नया आस्वाद। गांव-गंवई, शहर-नगर, देश-समाज के लिए मुक्तिकामी सदिच्छा और स्वप्नों के लिए घनघोर संघर्ष, फिर भी अपनी फक्कड़ तरलता से साथ लबालब। बिलम जाए तो दीन-दुखी-घृणित-तृषित सबको नई ऊर्जा से आप्लावित कर दे और कुपित हो उठे तो अहंकारों की गर्वीली चट्टानों को चकनाचूर। तटवर्ती प्रदेश से लेकर सुदूर कछारों, खेतों तक के लिए प्रवहमान।''

'फिर फिर नागार्जुन' पुस्तक में उनके व्यक्तित्व पर प्रारंभ में चार कविताएं दी गई हैं। प्रेमशंकर रघुवंशी की कविता नागार्जुन के कवि-व्यक्तित्व के पोर-पोर को खोलकर रख देने वाली है। इस शताब्दी वर्ष में किरण अग्रवाल ने एक नए अंदाज और तर्ज पर उनके प्रति कविता लिखी है। भारत भारद्वाज की कविता में एक कसक है कि बाबा दिल्ली प्रवास में उनके घर नहीं आ पाए। भरत प्रसाद ने बाबा को याद करते हुए आवेगमयी भाषा में उनके जीवंत व्यक्तित्व को याद किया है। बाबा के व्यक्तित्व के अनेक पहलू हैं, जिनके अलग-अलग पक्ष पर विजय बहादुर सिंह, बालकवि बैरागी, रमाकांत श्रीवास्तव, आलोक धन्वा, महावीर अग्रवाल, महेंद्र भटनागर, शोभाकांत, विनोद शंकर शुक्ल, प्रताप राव कदम, आनंदवर्धन ओझा, राजेंद्र परदेशी, बलदेव, चेतन भारती एवं शिरीष कुमार मौर्य के आलेख प्रकाशित किए गए हैं। दूसरे खंड में नागार्जुन की कुछ प्रमुख कविताएं एवं गद्य रचनाएं दी गई हैं। तीसरे खंड में तीन साक्षात्कार। चौथे खंड में नागार्जुन के रामविलास शर्मा, केदारनाथ अग्रवाल, नंदकिशोर नवल, विजय बहादुर सिंह, मैनेजर पांडेय, वाचस्पति एवं प्रेमशंकर रघुवंशी के नाम लिखे कुछ पत्रों को रखा गया है। पांचवें खंड में नागार्जुन की कविताओं एवं कथा-साहित्य पर मूल्यांकन पर 47 लेख संकलित किए गए हैं। परमानंद श्रीवास्तव, श्रीभगवान सिंह, अजय तिवारी, लीलाधर मंडलोई, गोविंद प्रसाद, शैलेंद्र कुमार त्रिपाठी, शैलेंद्र चौहान, अभिज्ञात, बोधिसत्व, श्रीप्रकाश मिश्र, अजय वर्मा, वीरेंद्र मोहन, रोहिताश्व, कर्मेंदु शिशिर, नरेंद्र पुंडरीक आदि के आलेख नागार्जुन की समग्र रचनाशीलता की बारीकी से पड़ताल करते हैं। रमेश दवे ने नागार्जुन को विलक्षण शब्दों में रूपायित किया है—घूमता है तो फकीर और सोचता है तो कबीर। जिसे देखकर लगता है कि वाल्मीकि दीमकों का पर्वत तोड़कर निकल आया हो, गरीब धीमर कन्या को किसी व्यास जैसा बेटा मिल गया हो, जो पिता के ऋषित्व से बड़ा हो गया हो। गली, बाजार, चौक, मंच, जहां खड़ा हो गया, वहां से सत्ता को थरथरा दे, न हाथ में लाठी, न पेट-पीठ दोनों मिलकर एक, न पछताता, न रोता, बल्कि अपनी छोटी-सी देह से बड़ों के अहं को चुनौती देता, अपने वामन कदमों से व्योम का नापता, ललकारता, फटकारता वह आता,...तो लगता जैसे निराला ने कहा हो—जाओ नागार्जुन, जाओ, कविता का केपीटलिस्ट गुलाब उखाड़ो और बो दो उन सबकी शैया पर उसके कांटे, जो कविता को अय्याशी का अड्डा बनाए हुए हैं और अपनी धज से उड़ा दो उन सबको, जो गरीब की रोटी को अपनी बोटी में बदल रहे हैं। इस तरह एक बाबा पूरे कवि समाज का बाबा हो गया। बाबा के पास जन भी है और कविता भी।

आलोक धन्वा ने यह रेखांकित किया है कि बिहार में आचार्य शिवपूजन सहाय की सत्यनिष्ठावाली रचनाधर्मिता को आगे बढ़ाने में और समृद्ध करने में नागार्जुन, फणीश्वरनाथ रेणु और रामवृक्ष बेनीपुरी जैसे हमारे अतुलनीय साहित्यकार शामिल रहे। नागार्जुन के भीतर एक बड़े रचनाकार का आत्मसंयम और अनुशासन भी उतना ही रहता था।

'फिर फिर नागार्जुन' पुस्तक इस शताब्दी के एक दिव्य काव्य-पुरुष को कई आंखों से, कई कोणों से देखती हुई उनके महत्त्व को बार-बार उद्घाटित करती है। विश्वरंजनजी ने मेहनत, धैर्य एवं संयम से यह पुस्तक संपादित की है और 'शिल्पायन' के ललित शर्मा ने इसे आत्मीयता के साथ साफ-सुथरे और गौरवपूर्ण ढंग से प्रकाशित किया है। नागार्जुन के चाहने वालों को उनको फिर-फिर आशीष देना चाहिए।

फिर फिर नागार्जुन/संपादन : विश्वरंजन/शिल्पायन, 10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरख पार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032/ मूल्य : ₹ 900

यशवंत नगर, मार्खम कॉलेज के निकट,
हजारीबाग-825301 (झारखंड)
e-mail : bharatyayawar@yahoo.com,
M : 09835312665

यह संचयिता है और सहचर भी

रेवती रमण

किसी कवि के लिए 'योगी' शब्द का प्रथम प्रयोग संभवतः सरदार पूर्ण सिंह ने किया था। **'अमेरिका का मस्ताना योगी वाल्ट ह्विटमैन'** उनका एक प्रसिद्ध निबंध है। बाद में फणीश्वर नाथ रेणु ने त्रिलोचन के लिए **'सबद योगी'** का प्रस्ताव किया। हिंदी के समकालीन कवि विश्वरंजन के संपादन में केदारनाथ अग्रवाल पर केंद्रित, उनकी शतवार्षिकी के अवसर पर जो महाप्रबंध प्रकाशित हुआ है, वह है—**'बांदा का योगी : केदारनाथ अग्रवाल**। यह सर्वथा उपयुक्त शीर्षक है। याद करें तो डॉ. रामविलास शर्मा ने अपने एक लेख 'सूफी कवि केदारनाथ अग्रवाल' में केदारकी तुलना वाल्ट ह्विटमैन से की है। 'चंद्रगहना से लौटती बेर' उनकी एक प्रतिनिधि कविता है, जिसमें सरसों का जिक्र है। बासंती समय है, खेतों में फूली हुई सरसों का उत्सव बिंब है। इसे देखकर रामविलास जी को ह्विटमैन की 'द फर्स्ट डैंडेलियन' कविता की याद हो आई। विश्वरंजनजी ने केदार को 'बांदा का योगी' कहा है, 'मस्ताना योगी' नहीं। बावजूद इसके कि केदार के अधिसंख्य प्रकृति-चित्रों के पीछे एक खास तरह की उत्सवधर्मिता सक्रिय है। इसमें कुछ उनकी मस्ती की भी भूमिका है।

वैसे, केदार सब समय मस्त या पस्त कवि ही नहीं हैं। बिंब बहुलता उनकी कविता में है और यह जनपदीय संसाधनों की प्रचुरता की वजह से है, लेकिन वह एक दृष्टि-संपन्न कवि हैं। उनकी एक विचारधारा है। उनके काव्य-बिंबों से उनकी विचारधारा अविच्छिन्न है। इसलिए उनकी रूपासक्ति को 'रूपवादी' कहना सही नहीं है। केदार एक पक्षधर और प्रतिबद्ध कवि हैं। निराला की तरह रामविलास के प्रिय कवि हैं केदारनाथ अग्रवाल। निराला और केदारनाथ अग्रवाल के बीच हैं रामविलास शर्मा। बहरहाल, जब हम नागार्जुन, केदार, त्रिलोचन, शमशेर और मुक्तिबोध को हिंदी में प्रगतिशील कवि का दर्जा देते हैं तो इस बोध के साथ देते हैं कि प्रगतिशीलता रचना में जीवन की समग्रता की, उस समग्रता से प्रतिकृत यथार्थवाद की साहित्यिक-सांस्कृतिक टर्मिनोलॉजी है। विश्वरंजनजी ने इसे महसूस किया है और इस किताब की अतिसंक्षिप्त भूमिका में प्रकारांतर से प्रकट भी किया है। उन्होंने केवल 'प्रगतिवाद' के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में केदार सरीखे कवियों की चर्चा को पर्याप्त नहीं माना है। उनकी छह दशक से भी अधिक लंबी कविता-यात्रा में कम-से-कम पांच प्रवृत्तियों का संस्पर्श हुआ है—छायावाद, प्रगतिवाद, नई कविता, अकविता तथा समकालीन कविता। केदार की ईमानदारी और

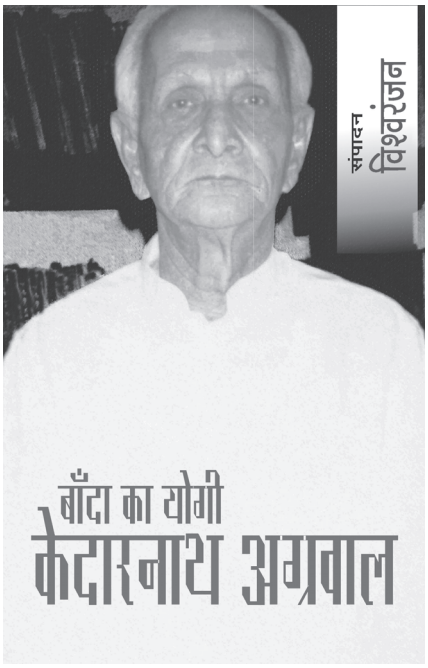

अटूट आस्था आधुनिक हिंदी कविता की उपलब्धि है। वह प्रगतिशील साहित्य के आंदोलन को हर सांस से गति देते हैं। उनका अनुभूति-क्षेत्र बड़ा है, इसलिए प्रस्तुति में भी पर्याप्त विविधता लक्षित होती है।

विश्वरंजनजी ने केदार की कविता और गद्य-लेखन को इस महाप्रबंध में कुछ इस शैली में संकलित किया है कि समग्र की झलक मिले, उसका प्रतिनिधित्व हो सके। रचनाकार की यशःकाया सामने हो तो विभावन-व्यापार की गति स्वतः संचालित होगी। केदार का व्यक्तित्व और कर्तृत्व इसमें अलग से भी मूल्यांकन का विषय बना है। यानी यह **संचयिता है और सहचर भी।** अनुक्रम के पांच पर्व हैं—(1) व्यक्तित्व, (2) कृतित्व, (3) साक्षात्कार, (4) पत्रावली और मूल्यांकन, बल्कि मूल्यांकन कुछ ज्यादा ही है; चार सौ से ऊपर इसके पन्ने हैं। जाहिर है, इनमें केदार की आलोचना-प्रक्रिया के श्रेष्ठ अंश भी आ गए हैं। केदार की कविताएं, कुछ अपवादों को छोड़कर, भाव-विचार के संप्रेषण में अत्यंत पारदर्शी हैं। बच्चों की स्लेट पर लिखी वर्णमाला की तरह, पर कुछ ऐसी भी हैं, जो सांकेतिक हैं। कई ऐसी हैं, जो पहली निगाह में सरल-सहज दीखती हैं, पर पाठ की पुनरावृत्ति से उनके अर्थ और अभिप्राय की पुनर्नवता उजागर होती है।

विश्वरंजनजी के संपादन में निकला यह महाप्रबंध इस आकांक्षा के साथ है कि केदार की कोई अन्य रचना या उनके व्यक्तित्व और कृतित्व से संबद्ध कोई अन्य सामग्री जिस पाठक के सामने न हो, वह इस अकेली कृति से भी केदार समग्र की झलक प्राप्त कर सकता है। इससे शोधार्थियों और प्रशिक्षु समीक्षकों को सुविधा होगी। संपादक ने खासतौर

से ध्यान रखा है कि केदार की कोई प्रतिनिधि रचना छूट न जाए। केदार पर विमर्श करते समय अक्सर लोग भूल जाते हैं कि अपने समकालीनों में वह सबसे समर्थ कविता के अनुवादक भी थे। उन्होंने दुनिया के महान क्रांतिकारी कवियों की कविताओं के हिंदी में अनुवाद किए थे। 'देश-देश की कविताएं' इस दृष्टि से दुर्लभ प्रस्तुति है। पाब्लो नेरूदा, वाल्ट ह्विटमैन, नाज़िम हिकमत जैसे कवियों को तब कम लोग जानते थे। केदारकृत अनुवादों का प्रतिनिधित्व भी इसमें सुविचारित है। 'हो चुका अश्रुगान' कविता पाब्लो नेरूदा की कविता 'द वाटर सांग एंड्स' का अनुवाद है।

केदार और नेरूदा में कुछ साम्य है। दोनों पक्षधर-प्रतिबद्ध और देश-प्रेमी कवि हैं। उन्हें अपने जनपद और जन्म-भूमि की प्रकृति-सुषमा का खास खयाल है। नागार्जुन ने केदार पर कविता लिखी—'ओ जन मन के सजग चितेरे' और केदार ने नागार्जुन पर कविता लिखी—'नागार्जुन के बांदा आने पर'। इसमें नागार्जुन की कविता श्रेष्ठतर है, जिन कई कारणों से, उनमें एक है काव्यनायक का मूल्यांकन। 'ओ जन मन के सजग चितेरे' इस दृष्टि से केवल एक कविता नहीं, मूल्यांकन भी है। विश्वरंजनजी ने इसके महत्त्व को समझा है और इसे प्रारंभ में ही प्रतिष्ठा दी है। केदार के व्यक्तित्व पर अशोक त्रिपाठी और नरेंद्र पुंडरीक का लेखन प्रामाणिक है। ये लंबे समय तक उनके संपर्क-सान्निध्य में रहे, इसलिए भी, किंतु जूली की अंग्रेजी कविता 'नानाजी' और चैतन्य अग्रवाल के संक्षिप्त संस्मरण से इस खंड की गरिमा बढ़ गई है। केदार को अपने बच्चों, नाती, नातिनों से कितना लगाव था, उनकी दिनचर्या क्या थी, आदि बातें जूली की कविता से उजागर होती हैं। दरवाजे पर नीम का पेड़ था जिसके, वह कुर्ता-पाजामा में एक सामान्य सहज आदमी था। उसके दफ्तर में कानून की किताबें आलमारियों में भरी पड़ी थीं। वह ठीक चार बजे भोर में जग जाता और सफाई के काम में लग जाता। ठंडई, जलेबी, किशमिश का जलपान। वह केन नदी के किनारे का कवि था। उसे लाल गुलाब प्रिय था। अपनी कविता के अंत में जूली प्रश्नाकुल हो उठी है—

Who was Kedarnath?
was he just a poet or a fragrant
basanti hawa,
that touched us.

चैतन्य ने लिखा है कि 'वह सादा जीवन उच्च विचार' का जीता-जागता उदाहरण थे।' (पृ. 20)

इस महाप्रबंध का 'कृतित्व' खंड अत्यंत उपयोगी है। इसमें एक सौ छह कविताएं हैं। कविताओं के अतिरिक्त केदार के चार लेख, एक कहानी (नर्तकी) और एक रूस की यात्रा का वृतांत-अंश भी है। संकलित कविताओं के आईने में मूल्यांकन-लेखों की परख रोचक हो सकती है, बावजूद इसके कि केदार अपनी आलोचना को तवज्जो नहीं देते थे। उनकी अपनी प्रकृति थी, औपचारिक-अनौपचारिक अभिव्यंजना प्रणाली भी, लेकिन 'पत्रावली' खंड में संवाद की आतुरता छिपी नहीं रहती। 'मित्र-संवाद' तो उनका रामविलासजी से था, इसलिए कुछ सीखने-समझने का आधार वहीं था। रामविलास जी की कविता की अपनी समझ थी। महर्षि वाल्मीकि से लेकर भवभूति, तुलसी, निराला, नागार्जुन सब पर रामविलास जी ने मनोयोग से लिखा है, किंतु मुक्तिबोध को लेकर उनके पूर्वग्रह प्रकट हैं और विकट भी।

केदार और रामविलास की मैत्री कवि-आलोचक की मैत्री है और बेमिसाल है। दोनों के बीच निराला हैं। केदार निराला से प्रभावित हैं। उन्होंने बड़ी संख्या में पत्नी प्रेम या कहें दांपत्य-रति की कविताएं लिखी हैं। निराला की कविता में प्रेम और सौंदर्य का आलंबन स्त्री दरअसल उस गाइडिंग स्टार जैसी है, जो अनंत पथ से करुणा की धारा प्रवाहित कर रही है। केदार ने 'कवि सूर्यकांत के प्रति' कविता में निराला को सूर्य कहा है। उनकी प्रतिभा व्यापक है और चकित करती है। यह निराला के प्रति लिखी हिंदी की कविताओं में अत्यंत कमजोर है, पर इससे केदार की प्रवृत्ति जानने में सुविधा होती है। इसमें केदार लिखते हैं, 'न चारण हूं, न चाटुकार/न स्वार्थ-साधक साहित्यकार/मैं हूं एक स्वाभिमानी कवि-वकील।' (पृ. 134) केदार कमासिन से लखनऊ होते हुए बांदा पहुंचे। गांव के संस्कार लिए। जातीय जीवन की भाषा स्वीकार किए।' केदार की मानें तो पेड़-पौधे, पवन-पानी, जमीन-आसमान, आदमी और उसकी तमाम गतिविधियां उनकी सांस्कृतिक चेतना की उपजीव्य हैं। वे प्राकृत सृष्टि के समक्ष मानवीय सृष्टि हैं। उनमें दुःख के टूटने की स्वीकृति है, पर टूटना हर बार कविता से ममता जोड़ने की वजह बना है। इसमें कविता के प्रति आस्था खुद से बढ़कर है—'जहां गिरा मैं/कविताओं ने मुझे उठाया/हम दोनों ने वहां प्रात का सूर्य उगाया।' (पृ. 136) जाहिर है कविता बड़ी होगी, तभी कवि भी बड़ा होगा।

'बांदा का योगी' में केदार की बहुमुखी प्रतिभा के साक्ष्य हैं। वह स्वभावतः कवि हैं। उनकी अभिव्यक्ति का मुख्य माध्यम भी कविता ही है, यह इस ग्रंथ से भी प्रकट है, किंतु उन्होंने गद्य भी लिखा है। हिंदी के प्रगतिशील

कवियों में कई ऐसे हैं, जिनका गद्य श्रेष्ठ है, जीवन-संग्राम की भाषा है। 'वह चीजों को उनके वास्तविक नाम से पुकारने की कला है।' तो यह कला केदार का आलोचनात्मक गद्य है। उसकी एक रीढ़ है। वह सिद्धांतनिष्ठ है, संकल्पनावेष्टित है। इसमें विमर्शक की पसंद और रुचि खास मायने रखती है। वह सतृणाभ्यवहारी नहीं है। खास बात यह कि केदार का गद्य 'कवि का गद्य' बिल्कुल नहीं है।

इसमें केदार के पांच साक्षात्कार भी संकलित हैं। दो तो नरेंद्र पुंडरीक के ही हैं। अन्य तीन क्रमशः अजित पुष्कल, अजय तिवारी और कृष्ण मुरारी पहारिया ने लिए हैं। 'साक्षात्कार' के लिए कमला प्रसाद 'संवाद' का प्रयोग बेहतर मानते थे। यह सबसे आत्मीय सृजन उपक्रम है, दो की उपस्थिति में कम-से-कम। दो से अधिक भी इसमें शामिल हो सकते हैं। आलोचना कॉमन परशूट यदि है तो उसकी एक कारगर शैली यह हो सकती है। संवादों में केदार सांगठनिक वर्चस्व को लेकर उदासीन हैं। वह एक व्यक्तित्व-संपन्न कवि हैं। चंद, कबीर, सूर, तुलसी आदि को अपना पूर्वज कहते हैं तो हिंदी कविता की जातीय परंपरा में उनकी भी एक जगह बनती है। कचहरी नियमित जाने से दस तरह के लोगों के बीच उन्हें उठने-बैठने का अभ्यास था, लेकिन केदार यायावर नहीं हैं। उनमें अज्ञेय, मुक्तिबोध और नागार्जुन की माइग्रेशन इंस्टिंक्ट का अभाव है। केदार को शमशेर की संश्लिष्टता और कलात्मक आभिजात्य के अभाव में देखना उनके 'स्वभाव' के समीप जाना है। रामविलासजी ने उन्हें ठीक ही एक किसान कवि के रूप में देखा है तथापि अपने स्तर से कविता-विश्व की नागरिकता उन्होंने ली है। वह शिल्प-सजग हैं, पर अज्ञेय या शमशेर की तरह नहीं। उनकी कविता कटी-छंटी नव कविता-सी कम ही है।

इस प्रबंध में कई पत्र भी संकलित हैं। मैथिलीशरण गुप्त, शमशेर, नागार्जुन, नामवर सिंह, अशोक वाजपेयी, भारत भारतद्वाज के नाम पत्रों में स्वर सदैव संवादी ही नहीं है। खासतौर से अशोक वाजपेयी के जवाब में उन्होंने कविता की अपनी समझ का आभास दिया है। वह नई कविता के विरोधी नहीं थे,

पर नई कविता उनके लिए लक्ष्मीकांत वर्मा की कविता नहीं थी। केदार नाजिम हिकमत, पाब्लो नेरूदा और मयाकोव्स्की जैसी लिखना चाहते हैं। केदारनाथ सिंह, अज्ञेय और रघुवीर सहाय का भी उन्होंने उल्लेख किया है, किंतु भारत भारद्वाज को लिखे उनके पत्रों में आत्मीयता छलकती है।

इस प्रबंध का वृहदंश आलोचनात्मक निबंधों का संकलन है, यानी 'मूल्यांकन' के अंतर्गत तिरपन लेख हैं। सर्वश्री शमशेर, त्रिलोचन, रामविलास शर्मा, नामवर सिंह, विश्वनाथ त्रिपाठी, शिवकुमार मिश्र, नंदकिशोर नवल, परमानंद श्रीवास्तव, कमला प्रसाद, राजेश जोशी, अजय तिवारी, लीलाधर मंडलोई, अवधेश नारायण मिश्र आदि के लेखों में केदार की काव्यात्मक विशिष्टता को जांचने-परखने का यत्न हुआ है। कई अनुपयोगी हैं, पर संभावना उनमें भी है। नामवर सिंह और शिव कुमार मिश्र ने केदार के गद्य पर लिखा है—'मित्र-संवाद' पर। इसमें नंदकिशोर नवल के दो लेख हैं। दोनों महत्त्वपूर्ण। नवलजी गंभीर प्रकृति के आलोचक हैं। वह उपलब्धियों से आक्रांत नहीं होते, न सीमाओं को सहलाने की जरूरत समझते हैं। नवलजी के मत में, 'केदार की कविताओं का असली वैभव उनकी प्रकृति विषयक कविताओं में प्रकट हुआ है। उनकी प्रकृति स्वतंत्र है और उनके प्रेम तथा उनकी लोकचेतना तथा जनचेतना से जुड़ी हुई है।' (पृ. 393) इससे आचार्य शुक्ल की आकांक्षा की अनुरूपता लक्षित होती है। केदार और त्रिलोचन के काव्य में प्रकृति का आलंबन रूप-चित्रण ऐसा ही है।

नवलजी केदार को 'एक श्रेष्ठ प्रगतिशील कवि' कहते हैं, जिसे 'जीवन और प्रकृति से गहरा प्यार हैं 'उनमें लोकचेतना के साथ जनचेतना भी है। उनकी काव्य-भाषा में खुलापन है और उनका शिल्प अनौपचारिक है।' शिल्प अनौपचारिक होने पर भी केदार की कविताओं में 'अनेक बार एक क्लासिकी स्पर्श भी है और उनकी प्रत्येक कविता का एक स्थापत्य भी है।' यह सब है, पर इन विशेषताओं के बावजूद 'केदार में विकास नहीं है, जिस रूप में होना चाहिए।' नवलजी इसकी खास वजह मानते हैं, 'केदार का गलत काव्य शास्त्र'। काव्यालोचन में संस्तुति और दोष-दर्शन द्वंद्वात्मक हो तो इतिहास और समाजशास्त्र काव्येतर नहीं रहते। हिंदी के समकालीन कवियों ने नागार्जुन और मुक्तिबोध की अंतर्वस्तु का अनुसरण किया है और निराला-शमशेर से शिल्प सजगता का सबक लिया है। केदारनाथ अग्रवाल रामविलास शर्मा के हितोपदेश से अनुकूलित रहे, जबकि शीतयुद्ध की समाप्ति के साथ वह साहित्यालोचन-मात्र से विरक्त हो गए। केदारजी की रचनाएं, उनके भाव-विचार इतिहास का सच हैं तो उनकी प्रासंगिकता का प्रश्न अनपेक्षित नहीं है। हमें विश्वरंजनजी का कृतज्ञ होना चाहिए कि उन्होंने उत्तर आधुनिक परिदृश्य में ऐतिहासिक महत्त्व के प्रगतिशील कवि-लेखक केदारनाथ अग्रवाल को इतने विश्वास और तैयारी के साथ प्रस्तुत किया है।

बांदा का योगी : केदारनाथ अग्रवाल/ संपादन : विश्वरंजन/ शिल्पायन, 10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरख पार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032, मूल्य : ₹ 1,100

22, रीडर्स क्वार्टर्स, युनिवर्सिटी कैम्पस, मुजफ्फरपुर-842001 मो. 09006885907

कवि दिनकर की विराट छवि से साक्षात्कार

योगेश प्रताप शेखर

छायावाद ने न केवल खड़ी बोली हिंदी कविता को पूरी तरह स्थापित किया, बल्कि उसे एक ऊंचाई भी दी। इसी जमाने से भारत का स्वधीनता आंदोलन जोर पकड़ने लगता है और हिंदी उसकी वाहक भाषा बनती है। यह वही समय है जब हिंदी भाषी जनता के बीच राष्ट्रीय चेतना का विकास आरंभ होता है, पर छायावाद के साथ दो कमजोरियां भी जुड़ गई थीं। वे हैं—अतिशय लाक्षणिकता और रहस्यात्मकता। ऐसी स्थिति में 'अभिव्यक्ति की सरलता और यथार्थवादी रुझान' के साथ हिंदी कविता में स्वच्छंदतावाद का दूसरा दौर शुरू होता है, जिसके महत्त्वपूर्ण कवि रामधारी सिंह दिनकर हैं।

रामधारी सिंह दिनकर का लेखन चार-पांच दशकों तक फैला है। आजादी की लड़ाई के दौरान उनकी कविताएं घर-घर पहुंचीं और जनता ने मैथिलीशरण गुप्त के बाद उन्हें राष्ट्रकवि का विरुद दिया। इसलिए प्रो. नंदकिशोर नवल और डा. तरुण कुमार द्वारा संपादित दिनकर रचनावली का चौदह खंडों में प्रकाशन सुखद, संतोषप्रद और महत्त्वपूर्ण है। इन चौदह खंडों में आरंभिक पांच खंडों में दिनकर का काव्य संकलित है और बाकी में उनके द्वारा लिखा गद्य। काव्य-खंडों का संपादन प्रो. नवल ने किया है और गद्य-खंडों का डा. तरुण ने।

काव्य-खंडों में पांचवा खंड दिनकरजी के प्रबंध-काव्यों का संकलन है। बाकी चारों खंडों में संपादक ने अपनी परिपक्व दृष्टि से संकलित कविताओं को विभाजित किया है। इस विभाजन में पहला खंड 'राष्ट्र और समाज', दूसरा खंड 'प्रेम और शृंगार तथा अन्यान्य विषय', तीसरा खंड 'आत्म और अध्यात्म' एवं चौथा खंड 'पुनः सृजन' है। दूसरे खंड के परिशिष्ट में क्रमशः किशोरोपयोगी और बालोपयोगी कविताएं भी दी गई हैं। चौथे खंड के परिशिष्ट में दिनकरजी के सभी कविता-संग्रहों की भूमिकाएं, समर्पण, उनके आरंभ में दी गई कविताओं के उद्धरण दिए गए हैं। अपने द्वारा किए गए इस वर्गीकरण के कारण को स्पष्ट करते हुए प्रो. नवल ने लिखा है, "दिनकर-काव्य के कुछ अदृष्ट पहलू भी हैं, जो उनके बड़ेपन के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। मैं रचनावली में उन्हें खासतौर से लोगों की दृष्टि में लाना चाहता था, जिसमें वे 'बादलों में छिपे अपर दिनकर' को जान सकें।" यद्यपि दिनकरजी की कविता का प्रधान स्वर राष्ट्र और समाज से ही संबंधित है, मगर उनके काव्य-सूर्य की अनेक रश्मियां हैं। इस बात को स्पष्ट करते हुए संपादक ने लिखा है, "किसी भी महत्त्वपूर्ण कवि की कविता में स्वर-विशेष की प्रधानता के बावजूद उसमें अन्य स्वर भी छिपे होते हैं। उदाहरणार्थ राष्ट्र और समाज की कविता में यदि कवि का आत्मीय स्वर न हो या आत्मविषयक कविता में ही सामाजिक प्रतिध्वनि लुप्त हो, तो ऐसी कविताएं बेकार होंगी।"

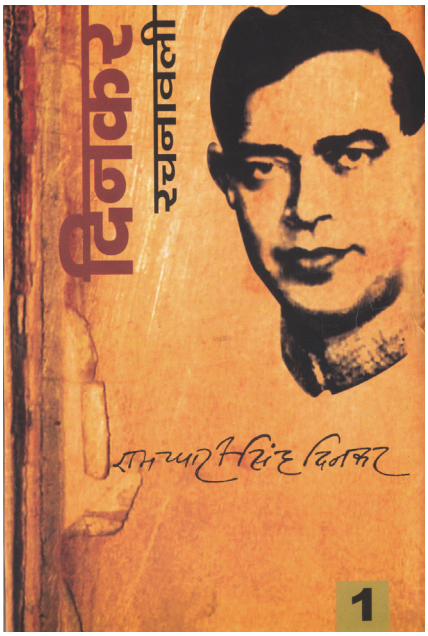

दरअसल भारत में जब आजादी की लड़ाई तेज हुई, तब व्यक्ति-समाज के रिश्ते भी बदलने लगे। राष्ट्रीय चेतना के विकास के कारण नागरिकों के भीतर राष्ट्रीयता की भावना तो विकसित हुई ही, साथ ही व्यक्ति और राष्ट्र के संबंध भी नए सिरे से परिभाषित होने लगे। उदाहरण के लिए इस पर भी विचार किया जाने लगा कि व्यक्ति की व्यक्तिगत आकांक्षा और राष्ट्रीय हित में क्या संबंध होना चाहिए? इसकी पहली सार्थक अभिव्यक्ति जयशंकर प्रसाद की कहानी 'पुरस्कार' में दिखाई पड़ती है। कुछ बदले हुए रूप में दिनकर का साहित्य इसका दूसरा चरण है। आजादी मिलने के बाद इसका तीसरा चरण आरंभ होता है, जिसकी कुछ ध्वनियां दिनकरजी के व्यंग्यात्मक स्वरों में प्रकट होती हैं और आगे चलकर नई कविता के कवियों में भी। इसीलिए दिनकरजी अपने रचनात्मक तथा आलोचनात्मक लेखन में द्वंद्वों से भरे दिखाई पड़ते हैं। एक तरफ से 'हुंकार' लिखते हैं तो दूसरी तरफ 'रसवंती'। एक ओर 'कुरुक्षेत्र' है तो दूसरी ओर 'उर्वशी'। ऐसी स्थिति में रचनावली का दूसरा और तीसरा खंड विशेष रूप से अवलोकनीय है। अकारण नहीं कि रचनावली के संपादक प्रो. नवल ने अपनी एक पुस्तक दिनकरजी को समर्पित की है और लिखा है, "हिंदी के अर्धनारीश्वर कवि रामधारी सिंह दिनकर की पवित्र स्मृति को।" यहां आया 'अर्धनारीश्वर' शब्द ध्यान देने योग्य है। यह 'अर्धनारीश्वर' दिनकरजी के लेखन में भी कई बार आया है।

दिनकरजी एक बहुपठित रचनाकार थे। उनके अध्ययन का क्षेत्र काफी विस्तृत था। उन्होंने देश-विदेश के कवियों-लेखकों को पढ़ा था। इसी क्रम में उन्होंने कुछ विदेशी कवियों की कविताओं का अनुवाद भी किया था। उनके अनुवाद इतने अधिक लोकप्रिय और समादृत हुए कि इन अनुवादों को पाठकों ने अनुवाद नहीं, बल्कि मूल कविताओं से प्रेरित स्वतंत्र रचनाएं माना। रचनावली के चौथे खंड में ऐसी ही कविताएं दी गई हैं। इन कविताओं को पढ़ने से एक नया काव्यास्वाद तो मिलता ही है, साथ ही दिनकरजी के काव्य-व्यक्तित्व के निर्माण की कई स्थितियां भी पता चलती हैं।

इस प्रकार काव्य-खंडों का जो विभाजन संपादक ने किया है, वह औचित्यपूर्ण है। शोधकर्ताओं को इससे काफी मदद मिलेगी। इसका एक बड़ा कारण यह भी है कि प्रत्येक कविता का रचनाकाल यहां दिया गया है। जहां यह संभव नहीं, वहां पुस्तक के प्रथम संस्करण की ओर संकेत कर दिया गया है। इसी तरह कई कविताएं यहां पहली बार संकलित हुई हैं, जिनका प्रमुख स्रोत 'दिनकर की डायरी' है। इसके अलावा कई कविताएं कई व्यक्तियों ने उपलब्ध कराई हैं।

पहले कहा जा चुका है कि रचनावली के छठे से चौहदवें खंड में दिनकरजी द्वारा रचित गद्य संकलित हैं। दिनकरजी का गद्य विविध है। इसमें साहित्यालोचन भी है, सांस्कृतिक चिंतन भी है, ललित लेख भी है, डायरी भी है। इनके अलावा अपने समकालीनों पर लिखे संस्मरण तथा आत्मीयों के नाम पत्र भी हैं। इसलिए संपादक प्रो. तरुण कुमार ने स्पष्ट करते हुए लिखा है, ''यहां दिनकर की गद्य-पुस्तकों को कालक्रम से इकट्ठा भर नहीं कर दिया गया है। ऐसा करने पर उनके गद्यकार के विविध पक्षों से पाठकों का कायदे से परिचय नहीं हो पाता।''

कहते हैं कि महान रचनाकार परंपरा का सर्जनात्मक विनियोग करता है। इस प्रक्रिया में वह परंपरा से कुछ लेता भी है और उसमें कुछ जोड़ता भी है। इन दोनों कामों के लिए परंपरा को समझना आवश्यक है। दिनकरजी के प्रसंग में प्रस्तुत रचनावली के छठे और सातवें खंड यह स्पष्ट करते हैं कि उन्होंने परंपरा को कैसे समझा और उसमें क्या जोड़ा? पाठक सातवें खंड का अवलोकन करेंगे तो वे पाएंगे कि दिनकरजी हिंदी साहित्य से ही नहीं, हिंदीतर भारतीय साहित्य से भी अपना पूरा परिचय प्राप्त करते हैं। वे आधुनिकता को लेकर भी काफी सजग दिखाई पड़ते हैं। भारत जैसे पुराने और विविध देश के प्रसंग में आधुनिकता का क्या स्वरूप हो सकता है? फिर साहित्य का आधुनिकता से क्या रिश्ता होता है या हो सकता है, इन विषयों पर दिनकरजी लगातार सोचते हैं। साथ ही उनके जमाने में विज्ञान का बहुत तेजी से विकास हो रहा था, इसलिए कविता के निजी स्वरूप पर उनका ध्यान बार-बार जाता था। उनकी चिंता का केंद्र बिंदु यह था कि कविता कौन-सा काम करती है, जो मनुष्यता के लिए अनिवार्य है और वह काम केवल कविता ही कर सकती है? इसी प्रश्नाकुलता ने उन्हें शुद्ध कविता की धारणा तक पहुंचाया, हालांकि वे बहुत जल्द इस धारणा की सीमाओं को भी जान गए।

आजादी की लड़ाई सिर्फ राजनीतिक या भौगोलिक नहीं होती, बल्कि गहरे अर्थों में वह सांस्कृतिक भी होती है। दिनकरजी आजादी से गहरे जुड़े हुए थे, इसलिए उनके चिंतन के दायरे में कई महत्त्वपूर्ण सवाल उपस्थित होते हैं। उभरते हुए राष्ट्र की भाषा, उसकी संस्कृति, नई पीढ़ी को सांस्कृतिक रूप से उन्नत बनाने का जरिया यानी शिक्षा, ऐसे कई विषय हैं, जिनसे दिनकरजी जूझते नजर आते हैं। रचनावली के आठवें, नवें और दसवें खंड में दिनकरजी का उपर्युक्त विषयों से संबंधित लेखन संकलित है और संपादक ने इसे उपयुक्त ही 'चिंतन' नाम दिया है। दसवें खंड में उनकी अत्यंत लोकप्रिय कृति 'संस्कृति के चार अध्याय', जो भारत की विराट सामासिक संस्कृति को समझने के क्रम में लिखी गई, संकलित है, पर 'संस्कृति के चार अध्याय' नाम यथास्थान नहीं है। इससे पाठकों को भ्रम होता है। वस्तुतः इस पुस्तक को इसके शीर्षक के साथ प्रस्तुत करना चाहिए था। नवें खंड में उनका भाषा-संबंधी चिंतन अपनी विविधता के साथ संगृहीत है। आठवें खंड में शिक्षा, संस्कृति तथा राजनीति से संबंधित लेख दिए गए हैं। नवें खंड में ही 'स्फुट' उपशीर्षक के अंतर्गत 'बिहार के मल्ल' नामक लेख दिया गया है, जो पहली बार यहां संकलित है। यह भिन्न मिजाज का निबंध पाठकों को निश्चित आनंद प्रदान करेगा। 'स्फुट' में ही 'कुछ शीर्षक मुक्त चिंतन' भी हैं, जो सूत्रात्मक रूप में जिंदगी को रोशनी देने वाले हैं।

रचनावली का ग्यारहवां खंड विशेष आकर्षक है। वह इसलिए कि इसमें दिनकर के गद्य की कई छवियां एक साथ पाई जा सकती हैं। इस खंड में कई विधाएं संकलित हैं। कुछ निबंधों को संपादक ने 'ललित लेख' नाम दिया है। वे लिखते हैं, ''दिनकर ने अनेक प्रकार के निबंध और लेख लिखे हैं। इनमें से कुछ ऐसे हैं, जिन्हें यहां ललित लेख कहा गया है। भाव-तरंगों पर सवार लेखक इसमें जीवन-जगत के किसी खास पक्ष का सुरुचिपूर्ण उद्घाटन करता है।'' इसके बाद 'गद्यकाव्य' उपशीर्षक के तहत दिनकर की 'उजली आग' पुस्तक रखी गई है, जो लेखक के 'जीवनानुभवों को कलात्मक रूप में संक्षिप्तता एवं सटीकता के साथ व्यंजित' करती है। इसी खंड में दिनकरजी द्वारा लिखित रेडियो-रूपक, यात्रा-वृत्तांत तथा बाल-साहित्य भी है। बाल-साहित्य के अंतर्गत दो पुस्तकें हैं— 'चित्तौर का साका' और 'भारत की सांस्कृतिक कहानी।' 'भारत की सांस्कृतिक कहानी' से स्पष्ट है कि दिनकरजी बाल-साहित्य को कितनी गंभीरता से लेते थे।

रचनावली के बारहवें खंड में दिनकर द्वारा अपने समकालीनों पर लिखे संस्मरण

एकत्र हैं। उनके समकालीनों में साहित्यकारों के साथ-साथ राजनेता, शिक्षाशास्त्री और अनेक विषय के विद्वान थे। स्वभावतः दिनकर का उनसे घनिष्ठ संबंध था। यहां उनका गद्य अपनी ऊंचाई पर परिलक्षित होता है। तेरहवें खंड में उनकी डायरी और नेहरू जी पर लिखी पुस्तक 'लोकदेव नेहरू' शामिल है। हिंदी में उत्कृष्ट डायरी-लेखन काफी कम है और दिनकर की डायरी इस अभाव को बहुत हद तक दूर करने की कोशिश करती है, पर विषय-सूची में 'रूस की डायरी' का अलग से जिक्र है, जो वस्तुतः 'दिनकर की डायरी' का ही हिस्सा है, परंतु ऐसा हो जाने से एक अलग कृति का भ्रम होता है।

चौदहवां खंड दिनकरजी द्वारा लिखे लगभग सात सौ पत्रों का संकलन है। इनमें चौदह पत्र पहली बार यहां संकलित हो रहे हैं। बाकी पत्र कन्हैयालाल फूलफगर और शिवसागर मिश्र द्वारा पहले संकलित किए गए थे। यद्यपि असंकलित पत्रों के स्रोत संपादक द्वारा बताए गए हैं, पर इसी खंड के परिशिष्ट में संगृहीत अंग्रेजी में लिखे एकमात्र दिनकर के पत्र का स्रोत तो बताया गया है, पर यह स्पष्ट नहीं किया गया है कि यह कैसे उपलब्ध किया गया यानी यह किसी व्यक्ति द्वारा उपलब्ध हुआ या संस्था द्वारा, यह संपादकीय असावधानी है। इन पत्रों में एक मनुष्य, जो व्यक्ति भी है और लेखक भी, के संघर्ष की पूरी कथा विद्यमान है, खासकर अपने गांव के सखा और सहपाठी शिवकुमार शर्मा के पत्रों में यह कथा अधिक स्पष्टता से व्यक्त होती है।

इस प्रकार दिनकर की रचनाओं का यह सुचिंतित संयोजन दिनकरजी के विराट रचनात्मक व्यक्तित्व की सतरंगी छवियों का साक्षात्कार कराता है। इससे उनके कई अलक्षित रूपों का पता चलता है, जिसका एहसास आनंददायक एवं सहृदयों को तृप्त करने वाला है।

दिनकर रचनावली (14 खंड)/संपादक—नंदकिशोर नवल, तरुण कुमार/लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-211001/मूल्य : ₹ 9,800

द्वारा रणविजय कुमार, नर्मदा-स्मृति, आजाद लेन, चौधरी टोला, पटना-800006, मो. 09631952649

आलोचना

महत्त्वपूर्ण साहित्यिक विवाद

अजित कुमार

आजादी मिलने के बाद हिंदी में विस्तार का जो सिलसिला शुरू हुआ था, उसके प्रीतिकर विकास के रूप में, इक्कीसवीं सदी के दूसरे दशक में संगठन का दौर आया है। लेखकों-कवियों की जो जन्म-शताब्दियां प्रायः रस्मी तौर पर मनाई जाती थीं, इधर उनके आयोजनों में संलग्नता-गंभीरता-दायित्व भावना झलकी है। इसके अनेक प्रमाणों में से एक है—अब से लगभग आधी सदी पहले 1961 में सजधज से प्रकाशित और प्रथम ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित कृति 'उर्वशी' विषयक वह विवाद, जो 1963-64 में 'कल्पना' (हैदराबाद) में छपा था और जिसे कायदे से तो 'दिनकर जन्म-शताब्दी' पर कुछ साल पहले पुस्तकाकार संभव होना चाहिए था, पर जो डा. गोपेश्वर सिंह की संक्षिप्त, किंतु सारगर्भित भूमिका—'उत्तर-छायावाद काल, दिनकर और उर्वशी'—सहित अब संभव हुआ है।

भूमिका के पांच खंड हैं—एक में बच्चन-दिनकर के महत्त्व का रेखांकन, दूसरे में बच्चन पर दिनकर को तरजीह, तीसरे में उर्वशी के भव्य, समारोहात्मक, महत्त्वकामी प्रकाशन का संदर्भ, चौथे में आज भी उस कृति की प्रासंगिकता का विवेचन और पांचवें में 'कल्पना' में छपी चर्चा के ऐतिहासिक महत्त्व का उल्लेख है।

संक्षेप में, संपादक की विचार-सरणि यह है, ''लोकप्रियता ही बच्चन-दिनकर जैसे कवियों की जान की दुश्मन हो गई, ऐसे काव्य-नियम विकसित हुए, जिनके लिए लोकप्रियता घटिया तत्व थी। लोकप्रियता को घटिया बताकर हिंदी कविता विश्व-विजय पर निकली और कविता को कठिन तथा विश्वस्तरीय बनाने का अभियान शुरू हुआ...प्रगतिशील और आधुनिक शिविरों के दावों और दलीलों के बावजूद हिंदी पाठक को उनमें वह अपनापन नहीं दिखा, जो उसे बच्चन-दिनकर की कविताओं में मिल रहा था...बच्चन-दिनकर अपने दौर के संघर्ष, उसकी चेतना और स्वप्न को समग्रता में वाणी देने वाले रचनाकार थे। यही कारण था कि स्वतंत्रता आंदोलन और भारतीय नवजागरण के असर से पैदा हुए मध्यवर्ग ने इन्हें सिर-माथे बिठा लिया और इन कवियों ने लोकप्रियता का नया कीर्तिमान बनाया।''

'उर्वशी' को भारतीय मध्यवर्ग के यथार्थ और स्वप्न में चलते द्वंद्व और घमासान की कविता बताते हुए संपादकजी बताते हैं कि ''साठ के दशक में मध्यवर्गीय युवा को प्रेमिका का उर्वशी-रूप आकर्षित तो करता था, लेकिन वह गार्हस्थ्य को भी नहीं भूलता था...अपने पौराणिक वितान में उर्वशी भारतीय मध्यवर्गीय

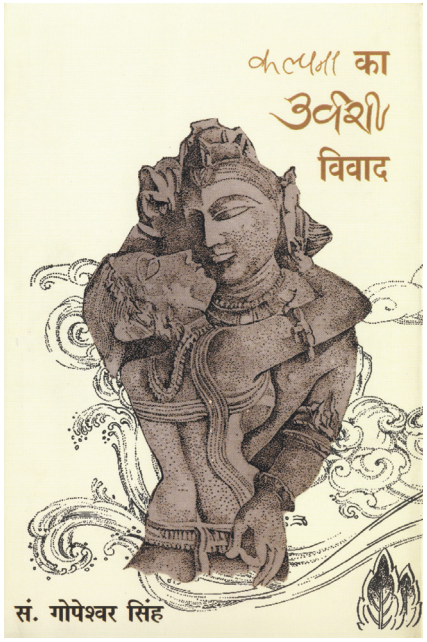

युवामन का ही संगीत है।'' मुख्यतः इसी नाते, वह कृति संपादक के खयाल से, आज भी लोकप्रिय है, यद्यपि उन्होंने स्पष्ट नहीं किया कि उस लोकप्रियता का दायरा मध्यवर्ग तक सीमित रहा या अधिक विस्तृत हुआ।

तो भी, डा. गोपेश्वर सिंह ने इस पुस्तक का संपादन मूल कृति की लोकप्रियता के विचार से नहीं, इस विश्वास से किया है कि ''कल्पना के उर्वशी-विवाद की सामग्री ऐसा दस्तावेज है, जिसकी तुलना आधुनिक काल की किसी अन्य काव्यकृति संबंधी बहस से नहीं हो सकती।'' निस्संदेह, कल्पना, अंक 138-147 में मुद्रित भगवत शरण उपाध्याय का लेख, उस पर पांच लेखकों के पत्र और विशेष आयोजन के अंतर्गत प्रकाशित बाईस कवियों-लेखकों-आलोचकों की समीक्षाएं-टिप्पणियां भावी अध्ययन का मार्ग प्रशस्त करेंगी, क्योंकि इस चर्चा में 'सप्तकों' के अनेक कवि ही नहीं, मैथिलीशरण गुप्त, सुमित्रानंदन पंत जैसे वरिष्ठ कवि और रामविलास शर्मा, नगेंद्र, रघुवंश, लक्ष्मीकांत वर्मा, रामस्वरूप चतुर्वेदी, देवीशंकर अवस्थी जैसे आलोचक तथा अनेक अन्य महत्त्वपूर्ण लेखक सम्मिलित हुए थे।

इस पुस्तक के दो अतिरिक्त आकर्षण हैं, मूल कृति के प्रथम संस्करण में मुद्रित रेखांकन तथा नामवर सिंह की टिप्पणी, 'मूल्यों का टकराव : उर्वशी विवाद' जो विषय से सीधे संबद्ध होने के नाते उनकी कविता के प्रतिमान वाली पुस्तक से उद्धृत की गई है। यह पुस्तक और भी उपयोगी हो सकती थी यदि संपादक ने 'उर्वशी' (1961) को मध्यवर्ग के संदर्भ में रखने के क्रम में, उसे यदि अधिक नहीं तो उस युग की कम-से-कम दो अन्य लोकप्रिय कृतियों—'कामायनी' और 'मधुशाला' (1936) के साथ जोड़ा होता।

तब शायद यह खुल पाता कि लोकप्रिय कविता उसे माना जाए, जो सूर-कबीर-तुलसी की तरह जन समुदाय का गलहार होती है या उसे जो विश्वविद्यालयी पाठ्यक्रमों का हिस्सा बन उच्च शिक्षितों के गले की फांस बनती है? अपने समय में 'मधुशाला' को साधारण लोगों ने जिस तरह हाथोंहाथ लिया था, उससे बिल्कुल भिन्न स्तर पर 'उर्वशी' अभिजात वर्ग से संबद्ध और उसी को संबोधित थी। मध्यवर्ग से तो वह कालांतर में जुड़ी, जब बी.ए., एम.ए.

आदि पाठ्यक्रमों में शामिल हो 'कामायनी' की होड़ में लगी।

गोपेश्वरजी का यह कथन यदि ठीक है कि ''समर्थन और विरोध का इतना तूफानी इतिहास आधुनिक युग में किसी अन्य काव्यकृति का नहीं है'' तो इसका श्रेय-अश्रेय उर्वशी के प्रकाशन से जुड़े आडंबरपूर्ण अभियान को देना सर्वथा उचित होगा, जबकि 'मधुशाला' की स्वीकृति का प्रमुख कारण था—उसकी बेतरह सादगी, जिसके नाते वह आम लोगों के दिलों में तो उतरी, लेकिन शिक्षोपयोगी कभी नहीं समझी गई। उसकी तमाम पैरोडियां भी उसके प्रति अनुराग से प्रेरित हुई थीं, जबकि 'बेडरूम में लगा भोंपू' बता 'उर्वशी' का किंचित परिहास भले किया गया हो, उसकी प्रशंसात्मक या आलोचनात्मक पैरोडी कदाचित कभी नहीं हुई।

साहित्यिक तथा शैक्षणिक, सभी तरह से उपयोगी इस पुस्तक में, प्रमुखतः 'लोकप्रियता' की जिस कसौटी पर तथाकथित 'प्रगतिशील और आधुनिक शिविरों के दावों और दलीलों' को खारिज किया गया है, उस 'लोकप्रियता' के दबाव ने मंच और मजमे के जाल में घेरकर कबीर, सूर, मीरा, तुलसी की परंपरा का जो हश्र किया, उसके बारे में चाहे कुछ भी न किया जा सके, यह जरूर सोचा जा सकता है कि ऐसा होने में छायावादोत्तर काल में इन तथा अन्य कवियों की भूमिका क्या थी?

'कल्पना' का उर्वशी-विवाद/सं. गोपेश्वर सिंह/ वाणी प्रकाशन, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, मूल्य : ₹ 250

166, वैशाली, पीतमपुरा, दिल्ली-110034,
मो. 9811225605, 9560180930,
फोन : 011-2731-4369

अपील

हिंदी की साहित्यिक-सांस्कृतिक पत्रकारिता का लगभग 150 वर्ष का स्वर्णिम इतिहास है, जिसमें सरस्वती, माधुरी, हंस, चांद तथा कहानी जैसी अनेक पत्रिकाओं ने हिंदी की रचनाशीलता को समृद्ध किया है। लघु पत्रिकाओं के माध्यम से यह क्रम आज भी चल रहा है। महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय द्वारा पुरानी ऐतिहासिक पत्रिकाओं के सभी अंक तथा अनेक लघु पत्रिकाओं के प्रवेशांकों का एक संग्रहालय स्थापित किया गया है। संग्रहालय में पुरानी ऐतिहासिक पत्रिकाओं के कम ही अंक उपलब्ध हो पाए हैं। हम सभी लेखकों, साहित्यप्रेमियों से अपील करते हैं कि पुरानी ऐतिहासिक पत्रिकाओं के सभी अंक संग्रहालय को उपलब्ध कराने में हमारी मदद करें ताकि पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से हिंदी साहित्य के विविध आयामों को शोधार्थियों के लिए उपलब्ध कराया जा सके।

संग्रहालय में रचनाओं की हस्तलिखित पांडुलिपियों, लेखकों का आपसी पत्र व्यवहार, लेखकों-पाठकों के बीच पत्र व्यवहार तथा चित्र आदि को भी संग्रहीत किया जा रहा है। सभी लेखकों, सुधी पाठकों से अपील है कि इस सामग्री को हमें उपलब्ध कराने में हमारी मदद करें।

विभूति नारायण राय
कुलपति

मैंने अपने टूटेपन को कविता की ममता से जोड़ा

कालूलाल कुलमी

यह केदार जी का शताब्दी वर्ष है। केदार के चिंतन को आज के संदर्भ में कैसे समझा जाए, उसके भीतर ऐसे सूत्र कहां से तलाशे जाएं कि केदार आज के लिए ज्यादा प्रासंगिक हो जाए या आज के समय के सरोकारों से केदार की कविता गहरे से संवाद कर सके। वह सामाजिक विषमता हो या समाज की अन्याअन्य समस्या हो, केदार की कविता बच्चे द्वारा फेंका गया वह कंकड़ है, जो अनंत काल को कंपा देता है। यह पुस्तक केदार के साथ लंबे समय तक जुड़े रहे, वर्तमान में केदार शोध पीठ के सचिव और कवि नरेंद्र पुंडरीक द्वारा संपादित है। इसमें केदार की वे कविताएं ली गई हैं, जिनसे केदार की समग्र दृष्टि को समझने में आसानी रहे। तकरीबन पच्चीस वर्ष पहले रामविलासजी ने केदार जी पर एक लंबी भूमिका के साथ पुस्तक का संपादन किया था। वह पुस्तक केदारजी को समझने के लिए बहुत ही उपयोगी है, लेकिन जैसा कि रामविलास जी की अपनी दृष्टि है, उसके कारण उसमें केदार की राजनीतिक कविताएं ही केदार की दृष्टि का प्रतिनिधित्व करती हैं। इस पुस्तक में यह देखने का प्रयास किया गया है कि केदार की समग्रता कहां है। वे प्रकृति प्रेम, जीवन संघर्ष, जीवन के राग के रचनाकार हैं। वे निरंतरता में परिवर्तन के कवि हैं। वे संक्रमण के कवि हैं। वे अपने समय में रूपांतरण के कवि हैं। बसंत के कवि हैं। चुनौती देने वाले, चुनौती लेने वाले कवि हैं। पुंडरीक ने संपादन में किसी तरह की कालक्रमता नहीं बनाई, उन्होंने केदार की प्रतिनिधि कविताएं ली हैं। केदार की कविता बसंती हवा—क्या जीवन के राग की कविता है? मनुष्य के स्वच्छंद विचरण की कविता है? मनुष्य और प्रकृति के संगीत की कविता है? केदार की इस कविता में मनुष्य की प्रकृति के साथ जो स्वच्छंद कल्पना है, वह जीवन का संगीत है। वहां थाप है, जिसका राग प्रकृति का राग है, मनुष्य का राग है। वहां कुंठा नहीं है। मांझी का संगीत है। केदार का काव्य राग जीवन की संघर्षधर्मिता से पैदा हुआ मानव मुक्ति का राग है।

कविता की यह पुस्तक केदार के कई पक्षों को एक साथ अभिव्यक्त करती है। यहां केदार अनास्था पर लिखे आस्था के शिलालेख हैं तो वे मृत्यु पर जीवन की जय की घोषणा करते हैं। वे किसी भी तरह से अपने में सिमटते नहीं। अपने को बाहर के समाज के साथ खड़ा किए हुए हैं। कवि कहता है ''मार हथौड़ा/
कर कर चोट

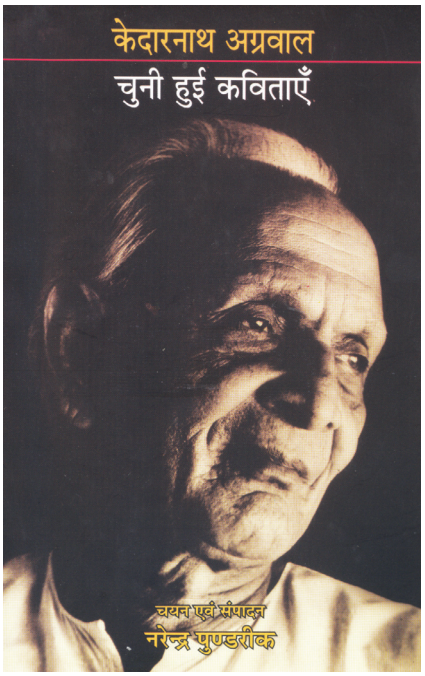

लाल हुए काले लोहे को
जैसा चाहे वैसा मोड़
मार हथोड़ा
कर कर चोट
दुनिया की जाती ताकत हो,
जल्दी छवि से नाता जोड़!''

पृ.सं. 49

अपनी कमजोर छवि से नाता तोड़कर ही यह वर्ग अपनी ताकत का अहसास करा सकता है। दुनिया के मजदूरो एक हो जाओ, तुम्हारे पास पाने के लिए सारा जहान है और खोने के लिए कुछ नहीं है। आज अन्ना हजारे के सड़क पर उतरने पर, जो जनता सड़कों पर आई है, वह जनता की ही ताकत है। केदार उसी जनता को अपनी ताकत का अहसास करा रहे हैं, जो अपने पर सबसे ज्यादा भरोसा करती है।

केदार की कविता के कई स्वर हैं। वहां राजनीतिक चेतना की प्रखरता हो या फिर प्रकृति के झंझावात में मानव का झंझावात हो। मुझे न मारो/मान-पान से,/माल्यार्पण से/यशोज्ञान से,/मिट्टी के घर से/निकाल कर/धरती से ऊपर उछाल कर। पृ.सं. 133

केदार पांव दुखानेवाले हैं न कि पांव पुजानेवाले। ऐसे में केदार को यह सब, जिसका प्रचलन आजकल बहुत ज्यादा हो गया है, वह सम्मान के नाम पर हो या फिर किसी और तरह से, केदार को यह सब मंजूर नहीं है। वे अपनी धरती पर रहे हैं। वे कविता में ही नहीं, जीवन में भी उतने ही प्रगतिशील हैं। यही वजह है कि केदार की कविता में तप की गहरी आंच है।

'दुख ने मुझको
जब-जब तोड़ा,
मैंने

अपने टूटेपन को
कविता की ममता से जोड़ा,
जहां गिरा मैं
कविता ने मुझे उठाया,
हम दोनों ने/वहां प्रात का सूर्य उगाया।'

पृ.सं. 176

दुख का कवि को तोड़ना और कवि का गिरना और कविता का उसे उठाना, यह मनुष्य के नैतिक पतन की कथा है, जिसके बारे में आचार्य शुक्ल कह गए कि मनुष्य को किसी की जरूरत हो या न हो, पर कविता की जरूरत हमेशा रहेगी, जिससे कि वह मनुष्य बना रहे। यहां कवि का निहितार्थ वही है। कवि वहीं से गिरने और कविता द्वारा उठाना और वह भी प्रातः का सूर्य। मनुष्य का सौंदर्यबोध और उसके भीतर का आभाबोध!

''लिपट गई जो धूल पांव से
वह गोरी है इसी गांव की,
जिसे उठाया नहीं किसी ने
इस कुठांव से।''

पृ. सं. 232

धूल और उसका पांव से लिपटना और उसको किसी का भी कुंठाव से न उठाना। विमर्शों के इस दौर में केदार उस जमीन पर जाते हैं, जहां यह गोरी है और वह भी पांव की धूल के रूप में।

इस संकलन में संपादक ने केदार की कविता को कई खंडों में विभाजित किया है। प्रेम कविताएं 'नदी एक नौजवान ढीठ लड़की है' शीर्षक के अंतर्गत हैं। यह तेज धार का कर्मठ पानी है तो यह जिसमें प्रतिवाद है, अज्ञेय कहीं पानी की गति को कामुकता के साथ जोड़ते हैं। केदार के यहां पानी अपने गहरे निहितार्थ में प्रेम की गहराई को व्यक्त करता है। वहां उदासी है तो उसका सम्मान भी है। केदार की कविता में यह नैतिकताबोध बहुत गहरे से पैठा है।

केदार की कविता में जनता के प्रति गहरा लगाव है। जनता के पूछने पर यह कवि हकलाता नहीं है। यह साफ कहता कि मैं जनकवि हूं। आज के समय में जितनी समस्याएं सामने आ रही हैं, वे इसी हकलाहट के कारण हैं। केदार इसको अस्वीकार करते हैं और इसी कारण केदार आपातकाल का विरोध करते हैं। केदार अपने भीतर एक

आलोचक को सदैव जीवित रखते हैं।

दूर कटा है कवि जनता का। यह कवि हथौड़े का गीत गाता है, कटाई का गीत गाता है। बुंदेलखंड के आदमी का गीत गाता है, जिसे आल्हा सुनकर सोने के अलावा कुछ नहीं दिखता, जबकि वह हट्टा-कट्टा है। वही ऐसी विषमता है कि पैतृक संपत्ति के नाम पर बाप से सौगुनी भूख मिलती है। वह अपने पेट की आग के लिए संघर्ष करे या वह आजादी का जश्न मनाए, जिसके बारे में उसको कुछ खबर ही नहीं है। उसे क्या मतलब है कि लंदन जाकर कौन आजादी ला रहा है या अमरीका से डालर आ रहा है। उसे अपने पेट की चिंता है। वह परती जमीन, जिसका कल तक कोई दाम नहीं था, वही जमीन आज करोड़ों की हो चली है, उससे

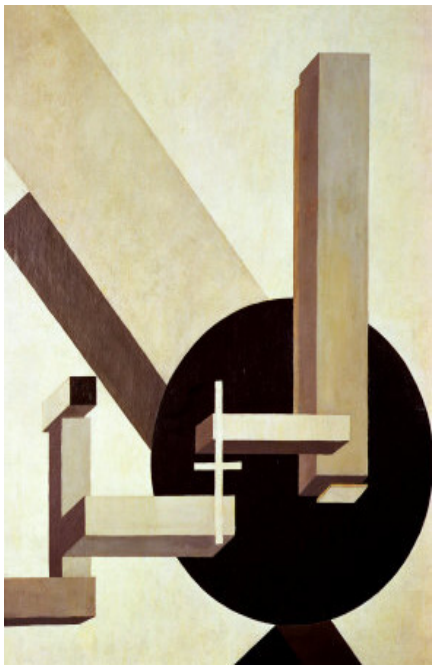

उसको क्या मिलने वाला है। वह तो वहीं पर है। बाजार के लुटेरे उसे लूट रहे हैं और वह कुछ नहीं कर सकता। उसको अपनी जमीन से ही बेदखल कर रही है उसी की लोकतांत्रिक सरकार।

हे मेरी तुम में पार्वती का साहचर्य है, जिसको पाकर कवि अपने को जरा मरण से परे कर लेता है। पार्वती का आत्मगंध केदार के बुढ़ापे की बहुत बड़ी ताकत बन जाती है। केदार कहते हैं—

'हे मेरी तुम! सुख का मुख तो
यही तुम्हारा मुख है
जिसको मैंने
इस दुनिया के दुख-दर्पण में
अपने सिर पर मौन बांध कर देखा
और यह देख कर मुग्ध हुआ
यह क्यों आज उदास है?'

पृ.सं. 157

हाथ मनुष्य के श्रम को अभिव्यक्त करते हैं। केदार कहते हैं कि—

वे हाथ जो कुछ न कर पाएं,
वे हाथ टूट जाएं।'
हाथ जो—
चट्टान को
तोड़े नहीं
वह टूट जाए
लौह को
मोड़े नहीं
सौ तार को
जोड़े नहीं
वह टूट जाए!

पृ.सं. 261

जो हाथ कुछ नहीं कर सकते, उनका टूटना ही श्रेयकर है। सवेरा होते ही जो हाथ कमल की तरह खिल उठते हैं, यदि उनमें श्रम का ताप नहीं तो वे किस काम के हैं? जिंदगी को वही गढ़ते हैं, जो शिलाएं तोड़ते हैं। केदार के यहां मनुष्य के श्रम का सौंदर्य है। वही समाज की जिंदगी को मोड़ता है।

केदारनाथ अग्रवाल चुनी हुई कविताएं/चयन एवं संपादन—नरेंद्र पुंडरीक/अनामिका प्रकाशन, 52, तुलाराम बाग, इलाहाबाद, मूल्य : ₹ 375

म.गां.अं.हि.वि,, पो. मानस मंदिर, गांधी हिल्स, वर्धा (महाराष्ट्र), मो. 09595614315

रंगपुरुष की रंगयात्रा

दीनानाथ

रंगकर्म एक श्रमसाध्य प्रक्रिया है, जो नाटक की समूहधर्मी प्रकृति के कारण और उसकी गतिशीलता के लिए अति आवश्यक है। नाटक समूह को बिना किसी भेदभाव के शिक्षित करने का काम करता है और राष्ट्रीय संस्कृति का बोध भी कराता है। इसके लिए जरूरत है रंगकर्म और नाट्यप्रस्तुतियों का लगातार होते रहना। हिंदुस्तानी एकेडेमी द्वारा छपी हिंदी के प्रमुख समीक्षक डा. अनुपम आनंद की बहुचर्चित पुस्तक 'हिंदी रंगकर्म के अमृतपुत्र—डॉ. सत्यव्रत सिन्हा' को मैंने खरीदा और पढ़कर लगा कि मुझे इस पुस्तक पर अपनी प्रतिक्रिया देनी चाहिए।

नाटककार डॉ. अनुपम आनंद ने अपने पहले नाटक 'पक्ष-विपक्ष' से ही पाठकों और आलोचकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लिया था। 'हिंदी रंगकर्म के अमृत पुत्र—डॉ. सत्यव्रत सिन्हा' उनकी दूसरी पुस्तक है, जो इलाहाबाद के प्रथम नाट्य विद्यालय 'नाट्य केंद्र' की परिकल्पना करने वाले हिंदी नाटक के प्रमुख हस्ताक्षर डॉ. सत्यव्रत सिन्हा को उनके संपूर्ण व्यक्तित्व और कृतित्व सहित समझने में सहायक है।

पुस्तक के अध्यायों को चार खंडों में बांटा गया है। पहला खंड डॉ. सत्यव्रत सिन्हा के जीवन और साहित्य-सृजन से संबंधित है। इसमें लेखक ने विस्थापन को पूरे हिंदी क्षेत्र का मुहावरा बताया है। लोकगीतों और लोकगाथा को हिंदी साहित्य के इतिहास का अंग न माने जाने के कारणों में लेखक ने भारत की वर्णवादी सामाजिक व्यवस्था को जिम्मेदार मानते हुए लिखा है कि, "लोकगीत, लोकगाथा का सम्मान तो दूर, उन्हें हिंदी साहित्य के इतिहास का अंग नहीं माना जाता है। संभवतः इसलिए कि इसके रचयिता शुक्ल-द्विवेदी परंपरा के द्विज नहीं थे।" यहां लेखक ने कारणों की पड़ताल में जल्दबाजी का परिचय दिया है, क्योंकि लोकगीतों की परंपरा सिर्फ गैरशुक्ल और गैरद्विवेदी की ही परंपरा नहीं रही है, बल्कि सभी वर्गों के सम्मिलित प्रयास का फल है। डॉ. सिन्हा का राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ से जुड़ाव और फिर अपने स्वतंत्र विचार प्रकट करने पर वहां रोक के कारण उससे असहमति और अलगाव को रचनाकार ने मार्मिक प्रसंगों के द्वारा व्यक्त किया है। अपने यथार्थवादी और स्वतंत्र विचारों के कारण उन्होंने 'प्रयाग रंगमंच' की स्थापना कर रंगकर्म को जीवन का मिशन बनाया। उस समय हिंदी में अन्य भारतीय भाषाओं की तरह रंगकर्म की कोई सुनिश्चित और सुसंगठित परंपरा नहीं थी। लेखक ने इस शुरुआत को रंगकर्म के क्षेत्र में शक्ति, संभावना और अवसर बताया है।

हिंदी नाट्य परंपरा के आरंभ में निदेशक तानाशाह हुआ करता था। अभिनेता उसकी कठपुतली होकर रह जाता था। डॉ. सत्यव्रत

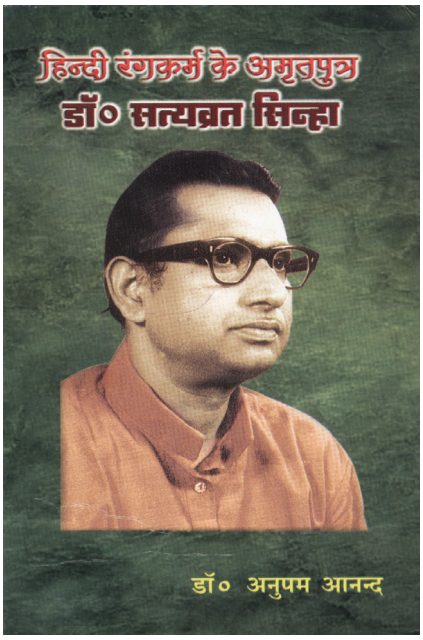

सिन्हा की दृष्टि लोकतांत्रिक थी। इसी लोकतांत्रिक दृष्टिकोण के कारण उनका 'नाट्यकेंद्र' से संघर्ष होता है। फलस्वरूप 'प्रयाग रंगमंच' जैसी महत्त्वपूर्ण संस्था की स्थापना संभव हो पाती है। 'अंधेर नगरी' में डॉ. सिन्हा की निदेशकीय दृष्टि और उनकी रंगमंचीय कल्पना को बड़ी बारीकी से उकेरा गया है। इसमें उन्होंने स्वयं चौपट राजा की भूमिका निभाई थी। इस नाटक के शब्दों में बगैर कोई परिवर्तन किए निर्देशन और अभिनय के कौशल से डॉ. सिन्हा ने इतना समकालीन बना दिया था, जिसे देखकर रंगचिंतकों ने यह मान लिया कि भारतेंदु को अपना निर्देशक सौ वर्ष बाद मिला है। सैमुअल बैकेट का नाटक 'वेटिंग फार गोडो' विसंगति की नाट्य परंपरा का उत्कृष्ट नमूना है, जिसमें सुनहरे भविष्य की आशा में लोग वर्तमान को नष्ट कर देते हैं। इसका मंचन बड़ा चुनौतीपूर्ण था। मंचन से ज्यादा संदेश संप्रेषण की समस्या थी। इस पुस्तक से यह पता चलता है कि किस तरह अपने निर्देशन कौशल और अभिनय कला से डॉ. सिन्हा ने इसे जीवंत बनाया। इसी अध्याय में 1975 ई. के आपातकाल के दौरान पकड़े जाने और पुनः जेल में ही उनकी दर्दनाक मृत्यु का विस्तार से जिक्र किया गया है।

पुस्तक का दूसरा खंड रंगचिंतन का है। इसे पढ़ने से पता चलता है कि डॉ. सत्यव्रत जी रंगमंच को नागर विद्या मानते थे। उनका विचार था कि जब राष्ट्र की सर्वांगीण उन्नति होती है, तभी बड़ा नाटककार पैदा होता है और बड़ा रंगमंच भी बनता है। उदाहरणस्वरूप उन्होंने कालिदास से लेकर शेक्सपियर तक के नाटकों को रखा है। रंग आंदोलन और रंगकर्मियों के प्रति नैतिक आग्रह रखते हुए भी विसंगति के नाटकों की ओर उनका झुकाव बेहद रोचक मालूम पड़ता है। लेखक का

मानना है कि कोई एक पद्धति, कोई एक प्रक्रिया और एक परंपरा पूरे रंगमंच को सभी संदर्भों में रूपायित नहीं कर सकती, बल्कि इन सबके मिले-जुले स्वरूप द्वारा ही बड़ा, स्थिर और निरंतरता को प्राप्त होने वाला रंगमंच स्थापित हो सकता है। ऐसी परिस्थिति के लिए नाटककार को परंपरा, पुराण, धर्म सभी से लड़ना होगा और इस लड़ाई में देशी- विदेशी के भेद को मिटाने तक की बात लेखक ने की है। यही वह कारण भी बन सकता है, जिससे हिंदी नाटक में नाटकीयता आ सकती है।

डॉ. सत्यव्रत सिन्हा की निर्देशीकय यात्रा 1960 ई. में 'शारदीया' से आरंभ होती है। उनके मुख्य विषय प्रेम, राजनीति, नवजागरण और समाज के आंतरिक द्वंद्व का प्रस्तुतीकरण आदि हैं। आगे चलकर स्वयं को अंतरराष्ट्रीय रंग आंदोलन से जोड़ते हुए उन्होंने भारतीय समाज की विसंगतियों को पहचाना। विपिन कुमार अग्रवाल, मोहन राकेश, कुंवर नारायण, विजय तेंदुलकर और फिर विसंगति के नाटकों के केंद्रीय तत्त्वों की स्थापना में उन्हें बहुत सफलता मिली। भारतीय और पाश्चात्य दोनों संस्कृतियों के अलग-अलग होने की बात जहां अन्य नाटकारों ने की, वहीं डॉ. सिन्हा दोनों में समन्वय करते हुए दिखाए गए हैं। बाजारवाद के बढ़ते प्रभाव पर आधारित नाटकों का मंचन भी उन्होंने खूब किया है। उनके व्यक्तित्व की व्यापकता में सराबोर होते हुए लेखक ने उसे एक मुक्तकाशी मंच के रूप में प्रस्तुत करने में पूरी सफलता पाई है।

नाटक और रंगमंच के संदर्भ में जो भ्रांतियां नाट्य रचना के आरंभिक काल से चली आ रही थीं, उस पर डॉ. सिन्हा ने बड़ी निर्भीकतापूर्वक नेशनल स्कूल आफ ड्रामा नई दिल्ली के स्नातकों को जिम्मेदार माना है। नाट्य प्रस्तुतीकरण में वे उसी कलाकार को सार्थक मानते हैं, जो मानवीय संवेदना से पूर्ण हो तथा पर्याप्त तटस्थ भी। पूरब और पश्चिम की जातीय संवेदनाओं में समानता का भाव देखते हुए आधुनिकता को व्याख्यायित करने को वे भारतीय कर्म मानते हैं। आधुनिक नाटकों के अभिनय की समस्या के समाधान हेतु डॉ. सिन्हा शैली-चिंतन, भाषा-चिंतन के साथ नाटककार और प्रस्तुतकर्ता में सामंजस्य का आग्रह करते हैं। मृतप्राय भाषा, अर्थ खो चुके शब्द और सदियों से एक ढंग की व्यंजना देने वाले वाक्यों का इस्तेमाल करने वाले नाटककार को उसका पिछड़ापन मानते हैं। हिंदी रंगमंच की समुन्नति और समृद्धि हेतु तथा प्रयाग रंगमंच को सही दिशा देने हेतु कार्यकर्ताओं को संबोधित उनके पत्र लोगों के लिए फीडबैक सिद्ध हुए हैं। विसंगति के नाटकों पर दुरुहता, परंपरा का नकार, पतनशीलता, जीवन से कटा हुआ आदि लगे आरोपों को खारिज कर इसे भारतीय रंगमंच की खोज में सहायक बनाना डॉ. सिन्हा के वश की ही बात थी। रंगमंच के तीनों आयामों—नाटक, प्रस्तुति तथा दर्शक के सामंजस्य से एक राष्ट्रीय रंगमंच की परिकल्पना उनकी राष्ट्रवादी दृष्टि को ही परिलक्षित करती है। इनके एक लेख से पता चलता है कि नाट्य रचना को वे प्रेक्षक के रंजन, प्रोत्साहन और अभिज्ञान के लिए आवश्यक मानते थे। इतना ही नहीं, साहित्यिक प्रतिमानों द्वारा नाट्य समीक्षा के पक्ष में वे नहीं थे। सिर्फ रंगमंचीयता को अपनी नाट्य समीक्षा का आधार बनाना ही नाट्य समीक्षा में उनके लिए बड़ी उपलब्धि थी। हिंदी नाटक और रंगमंच के इतिहास लेखन पर जोर देना उनकी ऐतिहासिक सोच को इंगित करता है।

अपनी स्वदेशी दृष्टि में डॉ. सत्यव्रत जी भारतेंदु के समकालीन दिखाई पड़ते हैं। भारतेंदु ने 'चंद्रावली' और 'अंधेर नगरी' में लोकनाट्य के तत्वों को ही मूल माना था, किंतु आगे यह परंपरा कायम न रह सकी। इस परंपरा के कायम न रहने अर्थात् लोकनाट्य को हेय मानने के कारणों में डॉ. सिन्हा स्पष्ट रूप से अंग्रेजी शिक्षा और पाश्चात्य दर्शन को जिम्मेदार ठहराते दिखाई देते हैं। वे आधुनिकता को जीवनमूल्य न मानकर, चिंतन की प्रक्रिया मानते हुए कहते हैं, ''हमें अपनी आधुनिकता अपने-आप खोजनी चाहिए, पश्चिम के द्वारा नहीं।'' इसी आधार पर वे नौटंकी, रहस, रासलीला, सफेड़ा, विदेसिया, यात्रा, तमासा, मचहा, कुचिपुड़ी, अंकिया आदि विविध लोक नाट्यरूपों के रचना शिल्प, शब्दशक्ति और उसकी प्रगति शैली को आत्मसात करने की सलाह देते हैं।

डॉ. अनुपम आनंद ने पुस्तक के तीसरे खंड में पांच महत्त्वपूर्ण हस्तियों का साक्षात्कार प्रस्तुत किया हे। लक्ष्मीकांत वर्मा, कृष्ण मोहन सक्सेना, विभु कुमार, कमल वशिष्ठ और डॉ. सत्यप्रकाश मिश्र से हुई बातचीत के अंशों से डॉ. सिन्हा की धारणा और उनकी विचार प्रक्रिया उद्घाटित हुई है। रंगकर्म की यथास्थिति से चिढ़ते हुए लेखक ने विचार की सेमेटिक पद्धति और रंगमंच से मास रिस्पांस की उपेक्षा को केंद्र में रखा है। इतना ही नहीं, इस यथास्थिति को तोड़ने के लिए वे नाटककार, निर्देशक और अभिनेता सभी को अपनी सर्जनात्मकता की पूरी छूट दिए जाने के पक्ष में हैं। साक्षात्कार वाले अंश में ही लेखक ने रमंमंच की तात्कालिक समस्या, आधुनिकीकरण, परंपरा और लोकमंच की उपेक्षा, क्षेत्रीयता का प्रभाव, अनूदित नाटक से हिंदी नाटक का विकास, राष्ट्रीय रंगमंच की कल्पना, रंगमंच की वर्तमान व्यवस्था, स्वातंत्र्योत्तर रंगमंच, निर्देशकीय दृष्टि, निर्देशक-अभिनेता संबंध, शिल्प की समस्या, पाश्चात्य दृष्टि, संप्रेषणीयता, कथानक संबंधी आधुनिक मान्यताएं, प्रसादकालीन नाटकों के मंचन, उपन्यासों के नाट्य रूपांतरण इत्यादि के अलावा कुछ ठोस प्रश्नों पर डॉ. सिन्हा की सारगर्भित टिप्पणियों को प्रस्तुत किया है।

समीक्ष्य पुस्तक के चौथे अध्याय में लेखक ने आधुनिक समीक्षकों की टिप्पणियों द्वारा डॉ. सिन्हा की नाटक के प्रति निष्ठा और प्रतिबद्धता को दिखाने का प्रयास किया है। इनमें प्रो. रघुवंश, डॉ. जीवनलाल गुप्त, गिरिराज किशोर, डॉ. विपिन कुमार अग्रवाल, डॉ. सचिन तिवारी और प्रो. राजेंद्र कुमार के व्यक्तिगत लेख हैं। 'अंधेर नगरी' की प्रस्तुति पर दूधनाथ सिंह और रामस्वरूप चतुर्वेदी और विपिन अग्रवाल की बहसें पाठक को भावविभोर करने वाली हैं।

इस पुस्तक में लेखक ने डॉ. सत्यव्रत सिन्हा को एक संपूर्ण रंगपुरुष के रूप में प्रस्तुत कर अद्वितीय प्रतिभा का परिचय दिया है। पुस्तक पढ़ते समय चित्र आंखों के सामने चलने लगता है। ऐसी विशेषताओं से युक्त डॉ. अनुपम आनंद की यह पुस्तक भाषा, शिल्प और संवेदना के स्तर पर हिंदी नाट्य जगत को एक नया रंग-रूप देने का अनुपम प्रयास है।

हिंदी रंगकर्म के अमृत पुत्र—डॉ. सत्यव्रत सिन्हा/डॉ. अनुपम आनंद/हिंदुस्तानी एकेडेमी, 12-डी, कमला नेहरू रोड, इलाहाबाद-211001/मूल्य : ₹ 180

असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, सी.एम.पी.डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद-211002, मो. 9451059820

सिनेमा का यथार्थ : यथार्थ में सिनेमा

अरुण कुमार

हिंदी सिनेमा में गांधी और देश का बंटवारा, ये दो विषय छाए रहे हैं। साहित्य के दूसरे रूपों में महात्मा गांधी कभी-कभी याद कर लिए जाते हैं, चाहे वह उपन्यास का इलाका हो या कविता का। प्रगतिशील भी एक समय में दीवार पर चस्पा गांधी के चित्र पर कालिख पोता करते थे। पी. सी.जोशी और शिवपाद अमृत डांगे गांधी का महत्त्व समझते थे। हिंदी सिनेमा में कछ ऐसे फिल्मकार हैं, जिनकी किसी भी कृति में गांधी और विभाजन में से किसी एक का असर देखा जा सकता है। बी.आर.चोपड़ा और यश चोपड़ा की टीम में जो लोग भी थे, अख़्तर-उल-इमान, अख़्तर मिर्जा आदि, वे भी देश के बंटने की पीड़ा से किसी-न-किसी रूप में प्रभावित थे। आज की पीढ़ी में निर्देशक राजकमार हीरानी जैसे के लिए महात्मा गांधी जीवन की शैली हैं। इसलिए 'लगे रहो मुन्नाबाई' और 'लगे रहो मुन्ना भाई।' प्रहलाद अग्रवाल 'जुग जुग जिए मुन्ना भाई' और 'रेशमी ख्वाबों की धूप-छांव' के माध्यम से सिनेमा की उस परंपरा का स्मरण तो करते ही हैं, व्ही. शांताराम (दो आंखें बारह हाथ) की परंपरा का, उसके साथ-साथ यश चोपड़ा (रेशमी ख्वाबों की धूप-छांव) और राजकुमार हीरानी (जुग जुग जिए मुन्ना भाई) की फिल्म-कला की बड़ी सार्थक तस्वीर प्रस्तुत करते हैं। एक जगह जुग जुग जिए मुन्ना भाई में उन्होंने लिखा है कि गांधी की कमियों को ढूंढ़ने वाली फिल्में (गांधी वर्सेज महात्मा, मेकिंग ऑफ दी महात्मा, मैंने गांधी को नहीं मारा, गांधी : माय फादर) बनीं, लेकिन चली नहीं। प्रहलाद के अनुसार ''लोक जीवन की संलग्नता इनसे नहीं बन सकी।'' यानी गांधी लोकजीवन में कितने गहरे घुले-मिले थे कि आज भी वे सिनेमा की छवियों में जिंदा हैं, 'दो आंखें बारह हाथ' से लेकर 'लगे रहो मुन्ना भाई' और 'मुन्ना भाई एम. बी.बी.एस.' तक। जिसने भी गांधी के इस पक्ष से थोड़ी भी असहमति दिखलाई, वे जनता में नहीं टिक सके। भगत सिंह और यशपाल जैसे लोग गांधी जी की आलोचना करने के बाद भी टिके रहे। कारण उनकी ईमानदारी और अपने विचारों के प्रति उनकी दृढ़ता थी।

गांधी अपने नायक का चयन लोक परंपरा से करते हैं, 'रघुपति राघव राजा राम/पतित पावन सीताराम।' मराठी का उनका प्रिय भजन, वैष्णव जन तो तेने कहिए, उनकी दिनचर्या में था। प्रहलाद इस सूत्र को हिंदी सिनेमा में भी पाते हैं। लिखते हैं, ''हिंदी सिनेमा का पहला नायक हमारी अपनी लोकगाथाओं से निकलकर आया था।'' 'जुग जुग जिए मुन्ना भाई' में मुन्ना भाई के भीतर

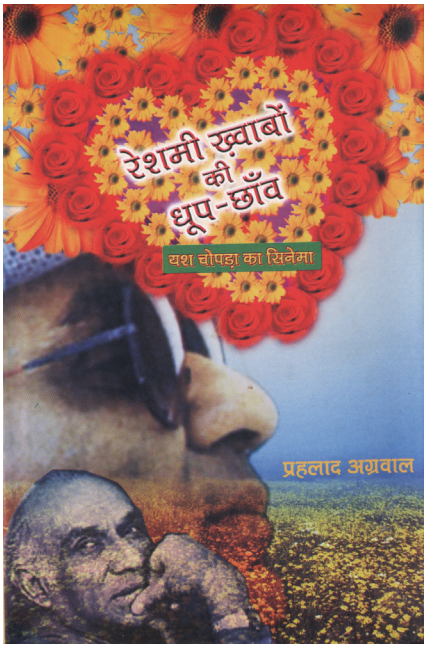

के गांधी को यहां से खोजा और जाना गया है। यह सच है कि मूक युग से लेकर 'एंटी थिएटर' के आज के दौर में भी लोक की परंपरा सोई नहीं है। कहते हैं कि डॉक्टर और मरीज के संबंध पर पहली नजर जापानी फिल्मकार अकीरा कुरोसावा की गई थी। हमारे परिचित राम कुमार सिंह 'कुर्जा संदेश' (जयपुर) में कुरोसावा को याद करते हुए लिखते हैं कि उन्हें कुरोसावा की फिल्म (डंकन एंजल) में राजकुमार हीरानी और डॉ. अस्थाना (बोमन ईरानी) दिखते हैं। राजकुमार हीरानी फंतासी के सहारे उस डॉक्टर की तलाश करते हैं, जिसमें दवा और इलाज से ज्यादा मुहब्बत लुटाने (इसे एक झप्पी चाहिए/संजय दत्त) की भावना हो। एंटी थिएटर के दौर में फैंटेसी का चलन अधिक होता है। अब तो फिल्मों में 'थ्रिल' के लिए एक अलग सेक्शन ही होता है। इसे थ्रिल और एक्शन के नाम से जाना जाता है। व्यावसायिकता के चरम उत्कर्ष के इस दौर में अति नाटकीयता से जीवन के यथार्थ को छूने की कोशिश नई और नसीहतों से मुक्त, लेकिन गहरी प्रेरणा देने वाली फिल्म है। आश्चर्य यह कि मुन्ना भाई में संजय दत्त की छवि पहले की फिल्मों से बिल्कुल भिन्न होने के बावजूद आगे की फिल्मों में कहीं रूढ़ नहीं हो सकी। संजय दत्त कितने अच्छे कलाकार हैं, प्रहलाद अग्रवाल इसकी तह में नहीं जाते। उन्होंने संजय को कभी बेचैनी से नहीं जाना। किसी दर्शक में किसी कलाकार की फिल्म देखने की बेचैनी होती है, वह जज्बा या भावना प्रहलाद में भी नहीं रही है। मुन्ना भाई में डॉ. अस्थाना (बोमन ईरानी) और सर्किट (अरशद वारसी) की तिकड़ी चमत्कृत करने वाली है। यों 'वास्तव' में भी संजय दत्त का अभिनय उनकी अन्य फिल्मों से बिल्कुल

अलग है। संजय पुराने अभिनेताओं की परंपरा में नहीं हैं, जिनकी पहली से आखिरी तक की रचना से वाकिफ होने के लिए एक बेचैनी रही है।

यह एक बड़ी सच्चाई है कि जिस दौर में गांधी जी नास्तिकों के बीच विवादास्पद रहे, वामपंथियों के बीच रहे, हिंदी के सिने संसार ने उनकी विचारधारा को बखूबी समझा। वह समय आजादी की पूर्व बेला का था, जब व्ही. शांताराम गांधी के विचारों को लेकर सिने जगत में आए। 'दो आंखें बारह हाथ' आजादी के बाद की फिल्म है। इसके पहले उनकी फिल्मों की सूची ('अयोध्या का राजा', 'अमृत मंथन', 'दुनिया न माने', 'आदमी', 'पड़ोसी') को देख-परखकर गांधी जी के विचार और उनकी जनता को जोड़ने की रणनीति का पता चलता है। स्वयं प्रहलाद ने माना है कि ''शांताराम का सृजन संसार भारतीयता से आलोकित अनुष्ठान है। अपने सांस्कृतिक गौरव का उन्नत मस्तक है।'' अपनी परंपरा से जुड़ाव, उसकी प्रगतिशीलता को समझना गांधीजी के समग्र विचार का प्रबल पक्ष था।

'धूल का फूल' में एक मुसलमान, पांचों वक्त नमाज पढ़ने वाला और 'कुरान शरीफ' से बेइंतिहा मुहब्बत करनेवाला एक अनाथ बच्चे को गोद लेता है। इस फिल्म के लिए साहिर लुधियानवी ने गीत लिखे थे। एक गीत है, 'तू हिन्दू बनेगा, न मुसलमान बनेगा, इन्सान की औलाद है, इन्सान बनेगा।' इतनी बड़ी बात एक मजहबी कह रहा है (मनमोहन कृष्ण)। प्रहलाद ने ठीक फरमाया है कि इस फिल्म 'प्रेम की आक्रामकता' भी उस दौर में अपवाद थी। राजेंद्र कुमार और माला सिन्हा पर फिल्माया गीत (तेरे प्यार का आसरा चाहता हूं/वफा कर रहा हूं वफा चाहता हूं।) आज भी जिंदा है। यश चोपड़ा की इस फिल्म में पटकथा का हर मोड़ आक्रामकता लिए है। चाहे विवाह पूर्व नायिका का गर्भवती होना हो, नायक द्वारा इंकार हो, बच्चे का जन्म हो, उसका प्रतिपाल हो, ये प्रसंग कहीं और किसी रूप में देश के विभाजन और उसके बाद के समाज में सांस्कृतिक आंदोलन के अभाव को भी दर्शाते हैं।

परंतु इसके पीछे यश चोपड़ा समेत बंटवारे के समय के कई बुद्धिजीवियों की वह राय है, जिसके मुताबिक बंटवारे के पहले और उसके समय में हुए दंगों में मुस्लिम समुदाय की अधिकांश आबादी का तबाह हो जाना महत्त्वपूर्ण परिणाम समझा जाता है। इसमें सच्चाई भी है। भले 'गदर : एक प्रेम कथा' से अल्पसंख्यकों के तबाह हो जाने वाले सच पर कुछ देर के लिए पर्दा पड़ जाए और कई लोग बंटवारे से उत्पन्न सांप्रदायिकता को एक ही तरह से देखने के विचार को ज्यादा प्रबल मानने लगें। फिर भी, आंकड़ों का इतिहास कुछ और सच कह रहा है। जो आबादी विशेष या ज्यादा तबाह होती है, उसके यहां धार्मिक विश्वासों और प्रतीकों का ज्यादा बोलबाला होता है। उन्हें धर्म का दड़बा ज्यादा सुरक्षित लगता है। उस कौम के बारे में, उसकी तरक्की और परेशानियों के बारे में दूसरी कौमों की तरह और उनके ही मान-मूल्यों के आधार पर नहीं सोचा जा सकता है। इसलिए यश चोपड़ा की फिल्म 'धूल का फूल' से लेकर 'धर्मपुत्र' और 'वीर ज़ारा' तक में उनकी एक दृष्टि, एक सोच प्रच्छन्न रूप से भी प्रभावी है। बाजारवाद के प्रबल होने के बावजूद यश अपने ढंग, अपनी सोच की फिल्म बनाने से पीछे नहीं हटते हैं। इसका उदाहरण उनकी दो फिल्में हैं, 'वीर ज़ारा' और 'चांदनी', 'चांदनी' 1989 में बनी थी। यश का स्वभाव है नए कलाकारों को महत्त्व देना। इस फिल्म में भी संगीतकार शिव-हरि को मौका मिला। वे इसके पहले यश की दो फिल्मों में संगीत दे चुके थे, परंतु 'चांदनी' में लोकधुन पर आधारित उनकी धुन बहुत लोकप्रिय रही (मेरे हाथों में नौ नौ

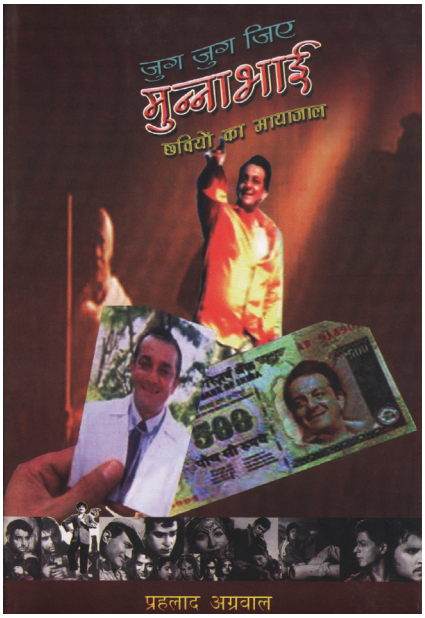

प्रहलाद अग्रवाल

चूड़ियां हैं)। याद करें, दशकों पहले उन्होंने 'धूल का फूल' में एन.दत्ता को अवसर दिया था और उनकी धुन आज भी सबकी जुबान पर है। बाजारवाद के इस दौर में भी यश चोपड़ा रिस्क लेने वाले निर्माता-निर्देशक हैं।

1969 के ही वर्ष में तीन और फिल्में भी आईं, 'इत्तफाक', 'आराधना' और 'दो रास्ते'। सत्तर और अस्सी के दशकों में 'दीवार', 'त्रिशूल', 'काला पत्थर' और 'सिलसिला' फिल्में आईं। यश की फिल्मों में कथानक का एक सुगठित विकास मिलता है। जो गलती 'आदमी और इन्सान' फिल्म में हुई थी, आगे की फिल्मों में इसकी पुनरावृत्ति नहीं हुई। 'दीवार' में कथा और पटकथा का धरातल भी ठोस है और उसका विकास भी। यश के मानस में भ्रष्टाचार के कारण खोखला हो रहे देश की बात बीज रूप में मौजूद रही है, जैसे बंटवारे की पीड़ा उनके दिल-ओ-दिमाग में छाई रही है। प्रसंगवश फिल्म में मास्टर की भूमिका में ए.के.हंगल और रवि (शशि कपूर) का संवाद बहुत महत्त्वपूर्ण है, जहां से यश फिल्म की कथा को बिल्कुल दूसरी ओर मोड़ देते हैं। इस ओर प्रहलाद अग्रवाल की कलम नहीं चलती है। प्रश्न है, डबल रोटी चुराने वाले (चंदन) और करोड़ों में खेलने वाले विजय (अमिताभ बच्चन) के भ्रष्टाचार को एक कैसे माना जा सकता है? प्रहलाद अग्रवाल को कथा के विकास में अचानक आए इस बदलाव का कारण खोजना होगा। उन्होंने नायक के आत्मविश्वास को सही ठहराया है, लेकिन वहां अंधविश्वास भी है, जिससे नायक नहीं लड़ता है। भगवान से छत्तीस का संबंध रखने वाले विजय को इस्लामी संख्या 786 में अटूट विश्वास है। यश की दो-तीन वर्षों पहले बनी फिल्म 'वीर ज़ारा' में बंटवारे के बाद दोनों देशों के साहित्य में गांधीवाद के अप्रासंगिक हो जाने की चर्चा होती रही।

गांधीवाद के समानांतर वाम की विचारधारा जोर पकड़ने लगी और कई यह भी कहने लगे कि अमुक लेखक अपने समय में गांधीवाद से आगे बढ़ा हुआ था, खासकर प्रेमचंद। गांधीजी बंटवारे का विरोध करते रहे, तब भी वे गंभीर आलोचना के शिकार रहे। वे साम्राज्यवाद के खिलाफ अपने तरीके से लड़ते रहे, तब भी वे आलोचना के शिकार रहे। उन्होंने भाषा का आंदोलन चलाया, आज पुराने

समाजवादी और दलित लेखक अंग्रेजी की अनिवार्यता का नारा लगाने से थकते नहीं। मुन्ना भाई को गांधी की सलाह है अपने से छोटे के साथ सद्व्यवहार करने की। मुन्नाभाई (संजय दत्त) को कैंसर का एक मरीज थप्पड़ लगा देता है। पूरे बंबई पर राज करने वाले मुन्ना भाई को पता है उसे एक झप्पी (मुहब्बत) चाहिए। आज का डॉक्टर यही नहीं दे पा रहा है। लाख रुपये का इंजेक्शन लगा दो, सब बेकार। प्रहलाद अग्रवाल के शब्दों में, ''जो केमिकल गांधी ने मुन्ना भाई के दिमाग में पैदा किया था...।'' 'लोचा' शब्द या इस तरह के अनेक स्थानीय शब्दों की झड़ी संजय दत्त की दूसरी फिल्म 'वास्तव' में भी है। ये सच है और प्रहलाद भी स्वीकारते हैं कि आजादी के बाद गांधी के साथ कोई नहीं था। इसलिए उन्हें हर तरह से अप्रासंगिक करने की कोशिश होती रही। भाषा चलेगी तो अंग्रेजी, कपड़ा चलेगा विदेशी। धान के खेत में भांग की खेती होगी। फिर गांधी कहां हैं? मुन्ना भाई के रूप में गांधी फिर से जी उठे हैं और प्रहलाद की कलम से उन्हें ताकत मिली है।

रेशमी ख्वाबों की धूप-छांव (यश चोपड़ा का सिनेमा)/**जुग जुग जिए मुन्ना भाई**/प्रहलाद अग्रवाल/राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/ मूल्य : क्रमशः ₹ 300 व मूल्य : ₹ 250

2 के/81, हाउसिंग कॉलोनी, बरियातु, रांची, (झारखंड) मो. 9835196472

इतिहास

मुअनजोदड़ो का सफर अर्थात् नाचना मोर का

भगवान सिंह

हिंदी में यात्रा विवरण बहुत अधिक नहीं लिखे गए हैं। जो हैं, वे भी उस तैयारी के साथ नहीं लिखे गए हैं, जिस तैयारी के साथ ओम थानवी का मुअनजोदड़ो। इसलिए यह अति संक्षिप्त, परंतु सभी दृष्टि से मूल्यवान विवरण रोचक इतना है कि पढ़ना आरंभ करने के बाद आप इसे एक ही सांस में पढ़ सकते हैं।

नाम में सचमुच कुछ नहीं रखा है—आदर्श यह है कि व्यक्तियों और स्थानों के नाम बिगाड़े न जाएं, परंतु यदि बिगड़ा नाम ही लोकप्रसिद्ध हो जाए तो उसे शुद्धि आंदोलन करके सुधारा भी न जाए। लिखें आप भले कुछ, जबान पर वही चढ़ा रहता है, जो प्रसिद्ध है, वाराणसी नहीं, बनारस। शुद्ध-अशुद्ध का ज्ञान रखने वाले भी शुद्धतावादियों का मखौल उड़ाते हुए अशुद्ध को अपना लेते हैं या चलने देते हैं। इसलिए गुप्तजी अपने को गुप्ता और सिंह अपने को सिन्हा लिखते हैं। नाम शुद्ध करो, अब भी अशुद्ध ही चल रहा है, इसे एक बार फिर सुधारो, यह शुद्धि-आंदोलन की समस्या है, भाषा और भाषाविज्ञान की नहीं, क्योंकि नाम का ख्यात रूप ही वास्तविक नाम होता है। अंग्रेजी के कारण स्थान नामों की तो और बुरी हालत है। नाम है दिल्ली, लिखते हैं देल्ही/डेल्ही, और देहली कहने और पढ़ने वालों का भी कोई बुरा नहीं मानता। लिखते हैं लकनाउ, अंग्रेजों और अंग्रेजी की लक का मामला है, गनीमत है कि पढ़ते और बोलते हैं लखनऊ, गो नखलऊ बोलने वालों की भी कमी नहीं। लिखते हैं अल्लाहाबाद, पढ़ते और बोलते हैं इलाहाबाद। इसलिए परंपरा के नाम के साथ एक विशेषण लगता आया है 'प्रसिद्ध'। नाम की अपनी भूमिका अभिज्ञान की है, नाम और नामित के संबंध की। उसके स्थापित होने के बाद समस्या हल हो जाती है। जो चल गया और जिससे व्यक्ति या स्थान की पहचान बन गई, वही उसका नाम हो गया।

शुद्धता के नाम पर मोहनजोदड़ो को माहेंजोदड़ो, मुएंजोदड़ो करने वाले स्वयं एक नकली समस्या को केंद्र में रखकर असली समस्या से मुंह मोड़ते रहे, सभ्यता की सच्चाई समझने की जगह नाम की वर्तनी सुधारते हुए। थानवीजी ने उसमें एक तिनका अपनी ओर से जोड़ दिया—सावधान! ला मुअनजोदड़ो इल मुअनजोदड़ो, पर मुअनजोदड़ो बेकार का तिनका होने के साथ गलत भी लगता है। मुआ का प्रयोग हिंदी प्रदेश में होता है, जो पंजाबी में मोया बन जाता है। यही प्रवृत्ति सिंधी में भी है। सिंधी की मेरी किताब में यह इबारत है '...तदहि लाड़िकाणे जिले जे दीकरी तैलिके में खोटाई कंदे खेलि **मोहन जे दड़ो** जा पत्तो लागे।' कहें इसका मोहनजोदड़ो (मोहजेदड़ो) नाम उतना ही सही है, जितना मोहेंजोदड़ो या

मोएंजोदड़ो। मोहन/मोहें/मोएं=संज्ञाहीन अर्थात् मृत। जो/जे=का/के, दड़ो=ढूह, डीह या टीला। टीले दो तो उजागर थे ही, इसलिए जो का जे करने पर उतर आएं, जैसा कि पोथी में है तो एक नाम का बोझ और बढ़ेगा। मोहेंजादड़ो को 'मुअनजोदड़ो' बनाने में मुहाजिरों की कुछ भूमिका हो सकती है जो उनके बीच प्रसिद्ध भी हो सकता है।

जैसा कि पत्रकार साक्षात्कार आदि से पहले कर लेते हैं, लेखक ने यात्रा से पहले तत्कालीन इतिहास और पुरातत्व पर यथासुलभ पुस्तकों और निबंधों को उलट-पलट लिया था, यह इस यात्रा वृत्तांत में आए नामों और हवालों से स्पष्ट है, ध्यान से किसी को नहीं पढ़ा था और समझा किसी को नहीं था, इसका प्रमाण भी वह स्वयं देता चलता है, परंतु जो देखा और सुना है, वह तो सहज उपलब्ध था और वहां पाठक को पुस्तक से बहुत कुछ मिल सकता है। पहले मैं स्वयं ही सिंध के देव झूलेलाल को वरुण देवता का पर्याय समझता था। यह जानना सचमुच विस्मयकारी था कि झूलेलाल शाहबाज कलंदर से, जिनका जन्म आठ सौ साल पहले हुआ था, केवल सौ साल पहले हुए थे और मुसलमान उन्हें पीर तथा हिंदू भर्तृहरि का अवतार मानकर पूजते रहे हैं।

परंतु ऐसी जानकारियों पर भी भरोसा इसलिए नहीं हो पाता, क्योंकि इसी विश्वास से दी गई अन्य जानकारियां तथ्यों से मेल नहीं खातीं। भंडारकर से पहले मुअनजोदड़ो में हीरानंद शास्त्री पहुंचे थे और उन्होंने खुदाई में हिस्सा भी लिया था, जिनकी रिपोर्ट भारतीय पुरातत्व के अभिलेखागार में नहीं है। हमारी जानकारी के अनुसार हीरानंद शास्त्री का मुअनजोदड़ो से कोई संबंध नहीं है। वह वहां कभी गए ही नहीं, न ही रपट पेश की थी। खुदाई और इसकी अति प्राचीनता का दावा उन्होंने ही किया था, भले मार्शल को इसे समझने में वर्षों का समय लगा हो। जो रिपोर्ट अभिलेखों में गायब है, वह उनकी ही थी, जिसे मार्शल ने अपनी भव्य पुस्तक में स्थान तक न दिया था। जिस देव और असुर संस्कृति की बात लेखक ने वासुदेवशरण अग्रवाल के संदर्भ में की है, वह वंद्योपाध्याय का दावा था। इस रपट को मार्शल ने अपने पास दबा लिया था और वापसी के समय हार्ग्रीव के हस्ताक्षर से इसकी एक नई टंकित प्रति भिजवाई थी और मूल रपट के फोटोग्राफ गायब कर दिए थे। इस टंकित प्रति को अग्रवाल जी के पुत्र ने पृथ्वी प्रकाशन से फोटोस्टेट प्रति के रूप में आज से मात्र एक दशक पहले प्रकाशित किया। हीरानंद शास्त्री हड़प्पा अवश्य गए थे, जिसका पुरातत्व और प्राचीनता उनकी समझ में न आई थी। मुअनजोदड़ों की प्राचीनता भंडारकर की भी समझ में नहीं आई थी। पत्रकारों को चुटकी बजाते पन्ने उलट-पलट कर साक्षात्कार आदि के लिए अभिज्ञता अर्जित करनी होती है और उसमें यह अपरिहार्य है, पर क्या इसके आधार पर स्वयं अपने को विशेषज्ञ घोषित किया जा सकता है। थानवीजी ने जो कहा है, उसमें इतनी बनावट और बुनावट देख कर जो सच हो सकता है, उस पर भी भरोसा नहीं रह जाता। इसी चलंता जानकारी और उड़ंता समझ के बूते पर थानवीजी ने मुंह बिरोनेवाली भाषा में वासुदेवशरण अग्रवाल और रामविलास शर्मा जैसे व्यक्तियों पर फिकरे कसे हैं, तो नासमझी के कोढ़ में खाज की तरह संतुलन की कमी और अशिष्ट भाषा का तत्त्व भी जुड़ जाता है। ऊंचाइयों पर नजर रखने वालों को कई तरह के जोड़-तोड़ करने पड़ते हैं, पर इसके लिए इतनी प्याज खाने की क्या जरूरत थी कि जुमलों से भी प्याज की बू आए!

थानवी जब ज्ञान प्रदर्शन के प्रलोभन में नहीं पड़ते तो उनकी भाषा और प्रस्तुति इतनी सहज लगती है कि मैं उनका लिखित कोई लेख, सामने हो तो उसे अवश्य पढ़ता हूं। आनंद के लिए। वह विशेषता इस पुस्तक का आकार दिए गए लेख के पूर्वार्ध में भी है। कराची से मुअनजोदड़ों की यात्रा और सिंधियों की अतिथि-परायणता और बस यात्रा के दौरान सहयात्री (नासिर) खान से बातचीत और रास्ते में देखे दृश्यों के वर्णन ने यात्रावृत्तांत को जीवंत बना दिया है। नाम कोई भी हो, किसी पुरातात्विक स्थल को देखना, उससे रागात्मक लगाव से उत्पन्न स्पंदन को सचमुच महसूस करना, उन पुरातत्व के सबसे महत्त्वपूर्ण अंग, नगर के खंडहरों को, जिन्हें किसी संग्रहालय में नहीं पहुंचाया जा सकता, न ही चित्रों से प्रस्तुत किया जा सकता, यथार्थ और सूचना के दुहरे प्रभाव से जादुई यथार्थ में बदल कर उनको कुछ क्षणों के लिए जीने का सौभाग्य किताबी ज्ञान की अपेक्षा बहुत बड़ी उपलब्धि होती है, जिसके लिए किसी को लेखक और प्रकाशक दोनों से ईर्ष्या हो सकती है। प्रकाशक का नामोल्लेख यात्रा प्रसंग में केवल एक बार सोने के संदर्भ में आया है, परंतु दृश्य का जादू तो दोनों पर छाया ही होगा। अच्छा होता आपसी बातचीत के माध्यम से देखे और जाने हुए को कुछ और विस्तार दिया जाता और (अ) ज्ञान प्रदर्शन से बचा गया होता।

थानवीजी ने मुझे भी इस पुस्तक में स्थान दिया है, परंतु मेरे अपने विषय में भी उनकी जानकारी कुछ अधूरी है। मैं आलोचना और आत्मालोचना दोनों कर लेता हूं। पिछली सदी के उनसठ-साठ में जब नेशनल लाइब्रेरी में बैठना आरंभ किया, तो वह बीमारी मुझे भी हुई थी, जिसमें थोड़े जल में ही उतर कर बहने

का उत्साह उमड़ता है। मैंने इसे भांप लिया था और एक तुकबंदी की थी :

मैंने एक किताब पढ़ी है/
लाल बछड़े वाली/काले कौए वाली/और एक और किताब/मन सेर छटाक पौए वाली/मेरा पेट ज्ञान से भर गया है।

थानवीजी का पेट सचमुच ज्ञान से भर गया है और उसका उन्हें पता ही नहीं है। परिणाम दूसरे भोंगेगे।

इतिहास पर जो कुछ कहा गया है, उसकी आलोचना हो ही नहीं सकती, क्योंकि कहा कुछ नहीं गया है। दूसरों ने जो कहा है, उसे अपनी ओर से अपने ढंग से टुकड़ों-टुकड़ों में बेतुके ढंग से ज्ञान प्रदर्शन के लिए दुहराया गया है और इस बात को ध्यान में रखकर दुहराया गया है कि किस तोल का मोल क्या होगा। इसलिए उस पर कुछ कहना जरूरी नहीं। यह पूछना भी जरूरी नहीं कि जानकी-जीवन यात्रा वाले अज्ञेय जी के प्रशंसक ने अपना कोट कब बदला, जो एकाएक प्रो. इरफान के पीछे खड़े हो गए?

परंतु इस बहाने यह समझाना जरूरी है कि जिस तरह से रोड ब्लाक होते हैं, उसी तरह दिमाग के भी ब्लाक होते हैं। कुछ फतवों, जुमलों, सूचनाओं और विचारदृष्टियों से ठसाठस भर जाने के बाद उनमें इतर जानकारियों के आने का रास्ता ही बंद कर दिया जाता है। यह बहुत पहले से उदाहृत हो रहा है। जब जेम्स मिल ने कहा था, बहुत हो गई प्राच्यविद्या। अब आगे से 'नो थ्योरी आउट आफ वेस्ट' और इसी को हीगेल और मार्क्स ने भी दुहराया था और इन तीनों को जहां दूसरों को प्राच्यविद्या दिखाई देती थी, वहां प्राच्य निरंकुशता दिखाई देने लगी। तब पहला अवरोध काम करने लगा था। इसी का विस्तार था 'आर्यजनों या आर्यभाषी जनों के मूल निवास की खोज कहीं भी की जा सकती है, परंतु भारत इस विचार क्षेत्र से बाहर रखा जाएगा, क्योंकि भारत के मूल क्षेत्र के रूप में आते ही गोरे यूरोपवासी सभ्यता की नस्ली समझ के कारण काले बंगालियों की संतान सिद्ध हो जाएंगे, जो उन्हें किसी कीमत पर स्वीकार नहीं। वे भी जानते हैं कि समाधान कहां है, उससे बचना उनके लिए कितना जरूरी है, इसलिए यह खोज जारी रहेगी, फिर भी विश्लेषणों का आधार 'नो थ्योरी आउट ऑफ वेस्ट' ही रहेगा। भारोपीय भाषा और संस्कृति ही पूर्व से आ गई तो सब कुछ तो पूर्व का हो गया। भारत को विचारबाह्य बनाने के साथ दूसरा अवरोध तैयार हुआ था। औपनिवेशिक उपयोग के इन अध्ययनों और निर्मूल स्थापनाओं को जब सेक्युलर बताकर सत्ता के बल पर जिलाए रखने का अभियान आरंभ हुआ तो तीसरा अवरोध काम करने लगा।

दिमाग के इन तिहरे अवरोधों को समझकर उनसे बचने की जगह उनसे ग्रस्त लोगों की जमात में शामिल होने की जल्दी में थानवीजी ने अपने प्रति अधिक अन्याय किया है, इतिहास के प्रति कम, और जिनका मुंह बिराने का प्रयत्य किया है, उनके प्रति अन्याय तो आप के किए भी नहीं होता।

इतिहास के बारे में तो अब वह भी जान चुके हैं कि मुहनजोदड़ो पर आक्रमण की कहानी गलत थी। आर्य जाति की संकल्पना गलत थी। भारत पर आक्रमण की बात गलत थी। किसी बड़े पैमाने पर भारत में आर्यभाषियों के प्रवेश की बात गलत थी। जब खंभे गिर गए तो छत किस पर टिकी रह गई? यदि भारोपीय प्रसार हड़प्पा के परिपक्व काल में हुआ तो प्रसार कहां से और किस तंत्र से हुआ, यह क्या स्वयंसिद्ध नहीं है?

किसी भी क्षेत्र के विषय में सूचनाओं का संग्रह एक चीज है, उसकी समझ दूसरी चीज। पहली के लिए एक नोटबुक या कंप्यूटर ही काफी है, दूसरी सूचनाओं का विवेचन करने और उनके अंतर्विरोधों को पहचान कर उनका हल निकालने के क्रम में पैदा होती है। थानवीजी में पहली चीज है। दूसरी पैदा होनी बाकी है। वह गौण सामग्री से पैदा नहीं होती, किसी क्षेत्र में जमीनी स्तर पर काम करने पर पैदा होती है। मूल स्रोतों तक पहुंचे बिना जो जी में आए, कहा जा सकता है। निर्मूल विद्वान बहुत ताकतवर होते है और खतरनाक भी—बिभ्येत अल्पश्रुतात वेदों मामयं प्रहरिष्यति।

काल्डवेल ने बहुत पहले कहा था कि द्रविड़ ने अपनी तकनीकी शब्दावली उसी तरह और उसी अनुपात में (45 प्रतिशत) संस्कृत से ली है, जिस तरह और जिस अनुपात में अंग्रेजी ने लातिन से। समीकरण स्वतः सभ्यता के निर्माण की गुत्थी को सुलझा चुका था। विल्सन ने उससे भी पहले अपने अनुवाद की भूमिका में यह कहा था कि ऋग्वेद से जिस सभ्यता का परिचय मिलता है, वह उस जैसी थी, जिसे ग्रीकों ने भारत पहुंचने पर देखा था। दोनों को किसी मुअनजोदड़ो या हड़प्पा का पता तक न था। वैदिक समाज क्या था, उसकी संस्कृति क्या थी, यह समस्या पहले ही सुलझाई जा चुकी थी। यह थी नहीं, पैदा की गई और हुक्कामों से लेकर हाकिमों तक का सारा पांडित्य इसी काम पर खर्च हुआ। जो इस मोटी बात को नहीं समझ सकता, उसे कुछ समझाया नहीं जा सकता।

ज्ञान प्रदर्शन एक ऐसा शगल है, जिसकी तरंग में लोग उसे उजागर कर देते हैं जिस पर पर्दा पड़ रहना चाहिए था। थानवीजी को कुछ दिन समझने पर ध्यान देना चाहिए। समझ पास हुई तो जगह तो पास है ही।

मुअनजोदड़ो/ओम थानवी/वाणी प्रकाशन, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, मूल्य : ₹ 200

ए-6, सिटी अपार्टमेंट, वसुंधरा एन्क्लेव, दिल्ली-110096, फो.—011-22625094

रहस्यमय चुप्पियों के बीच एक यात्रा

बलराम

भौतिक इच्छाओं की पूर्ति से जो खुशी मनुष्य को प्राप्त होती है, वह दीर्घजीवी नहीं होती। चालाकी और धूर्तता से चीजों के संग्रहण में लगे रहने वाले लोग सिर्फ अपना भविष्य सुरक्षित करने में जुटे रहते हैं। उनके पास समय ही नहीं होता कि मस्तिष्क के पिछले भाग में छिपे संस्कारों के खजाने पर दृष्टिपात कर सकें। इस अनदेखी के चलते वह खजाना लगातार कबाड़ में बदलता रहता है। सुख और संतोष भी आई-गई चीज होते हैं। हमें लगता है कि इच्छारहित होकर भी इनका स्थायित्व हासिल किया जा सकता है, लेकिन मनुष्य इस उम्मीद में मुब्तिला रहता है कि देर-सवेर वह सांसारिक पूंजी में स्थायित्व के एहसास को हासिल कर ही लेगा। इस तरह का भ्रम भीतर ही भीतर बढ़ता रहता है, इस बात से अनभिज्ञ कि स्थायित्व दरअसल है क्या? धीरे-धीरे मनुष्य की वह आकांक्षा दुःस्वप्न में बदल जाती है। बाह्य के बिना आंतरिकता में फिर भी कुछ न कुछ हासिल हो सकता है, लेकिन आंतरिकता की अनुपस्थिति में बाह्य के साथ यात्रा के दौरान मनुष्य के खोखला और एकायामी रह जाने का खतरा बना रहता है, क्योंकि यात्रा क्रियाकलापों के भंवरजाल से होकर ही गुजरती है। अर्थहीन चीजों से चिपके रहना, लालच का अंतहीन पोषण, सत्ता की अंतहीन भूख और वासना मनुष्य को पतन की ओर ले जाते हैं, क्योंकि अनेकानेक प्रलोभनों के वशीभूत होकर वह खुद को किसी न किसी यंत्रणादायक स्थिति में धकेल देता है। उसके भीतर किसी ऐसे तत्व के लिए कोई जगह ही नहीं बचती, जो उसे डूबने से बचा सके।

पंकज मिश्रा की किताब 'ऐन एंड टु सफरिंग' ऐसे ही सवालों के बीच से होते हुए संपन्न हुई है। गौतम बुद्ध का जीवन और उनका दर्शन आधुनिक युग के यथार्थ से जुड़ते हुए आतंकवाद, गरीबी, राजनीतिक परिदृश्य और नैतिक पतन जैसी भीषण समस्याओं से जूझते मनुष्य के लिए कितना अर्थपूर्ण और प्रासंगिक है, जैसे सवाल उठाती राजनीति, इतिहास, दर्शन, यात्रा और आत्मकथा के ताने-बाने से बुनी पंकज की यह किताब पठनीयता के सारे गुणों से लैस होकर बाह्य तथा आंतरिक दुनिया की यात्रा में सामंजस्य बिठाने की विलक्षण कोशिश करती है। फिर भी, यह प्रश्न तो उठता ही है कि पंकज मिश्र की यह किताब क्या यात्रा स्थलों और चेहरों के बीच से होकर गुजरने भर के लिए लिखी गई है, जो अंततः एक गहरी असफलता का एहसास दिलाकर भी हमारे जेहन में हमेशा के लिए दर्ज हो जाती है, खासकर तब, जब

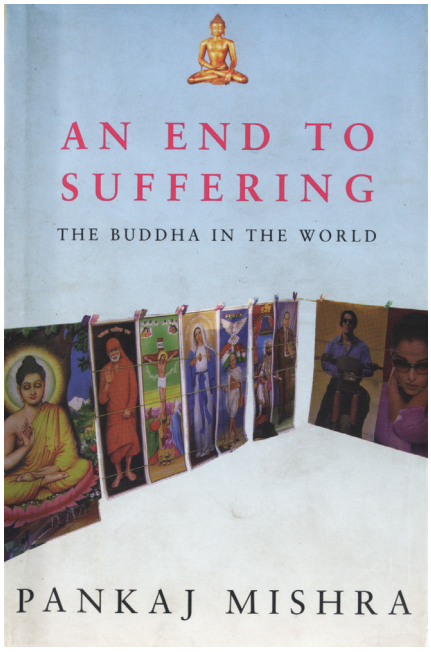

जीवन की सांध्य वेला में मुड़कर दृष्टिपात करते हुए हम पाते हैं कि हमारी सारी सांसारिक सफलताएं पानी के बुलबुलों की तरह एक-एक कर लुप्त हो रही हैं, जिनके ढेर पर बैठे हुए हम कितना-कितना इतराते रहे हैं।

'ऐन एंड टु सफरिंग' के नायक विनोद को पाश्चात्य जीवन मूल्यों और तौर-तरीकों के प्रति अजीब तरह की ललक और लगाव है, जिसकी संपूर्ति उसे भारतीय जीवन पद्धति में संभव नहीं लगती, लेकिन धरती के किसी ऊंचे से ऊंचे स्थान पर सीढ़ी लगाकर भी आप आमसान को तो नहीं छू सकते! हालांकि जिस कालखंड में विनोद रह रहे हैं, उस समय और व्यवस्था से उनकी वितृष्णा किसी हद तक जायज है, लेकिन एक व्यवस्था के संपूर्ण नकार और दूसरी व्यवस्था के संपूर्ण स्वीकार से सब कुछ तो हासिल नहीं हो सकता न! यह स्थिति किसी गहरी सोच-समझ नहीं, बल्कि घृणा की उपज है। ऊहापोह की स्थिति में नायक अंततः उस व्यवस्था का पुर्जा भर बनकर रह जाता है, जिसे लगातार नकारता चला आ रहा था।

विनोद जैसे व्यक्ति अक्सर उतना ही देखते हैं, जितना उनकी बाह्य आंख दिखाती है। वे तो यही सोचते रहते हैं कि नर्क के दुखों में जीने के लिए विवश हैं और स्वर्ग सुख एक अवधारणा मात्र है, एक कपोल-कल्पना, वास्तविकता से कोसों दूर, जिसको सामने रखकर ही जीवन यात्रा संपन्न करने के लिए वे अभिशप्त हैं। लगता है कि बुद्ध के ज्ञान तत्त्व की खोज में लेखक जहां-जहां भी गया, पूरे मनोयोग से संपूर्णता के साथ एक पल को भी उन स्थलों और दृश्यों से विलग नहीं हुआ, न मानसिक तौर पर, न ही संवेदना के स्तर पर। नायक गौतम बुद्ध के जीवन से जुड़ी हर

जगह और स्थल के साथ तादात्म्य स्थापित करता हुआ आगे बढ़ता रहा, क्योंकि उसे इस बात का बोध था कि अगर वह कुछ भी ग्रहण या आत्मसात कर सकता है तो एकाग्र होकर ही। उसका लेशमात्र भटकाव या किसी चीज को दृष्टि ओझल करना किसी-न-किसी महत्त्वपूर्ण को खो देना और दो कालखंडों के बीच के संपर्क सूत्रों से वंचित रह जाने जैसा होगा। शायद इसीलिए पंकज ने अपनी इस किताब का एक उप-शीर्षक भी दिया है 'द बुद्धा इन द सफरिंग'।

पंकज मिश्रा की इस किताब का मनोरम गद्य किसी भी तरह से अधूरे मन से किया गया साक्षात या दृष्टिपात भर नहीं लगता, हालांकि दृश्य तेजी से उस और इस काल के बीच संतरण करते रहते हैं, ज्ञात और अज्ञात के बीच बिना किन्हीं महत्त्वपूर्ण सूत्रों को खोए। विषय का समुचित ज्ञान न होने पर अपनी दूरदर्शिता पर भरोसा भर काफी नहीं होता, उसे अपने अनुभवों की खिड़की से जांच कर परखना और चरितार्थ करना होता है। स्थलों की अपनी अनुभवप्रवणता पर पंकज कुछ अधिक ही भरोसा करते दिखते हैं, एक ज्ञान-पिपासु अन्वेषक की तरह। स्थल यहां भूमि के टुकड़े भर नहीं हैं, वहां भ्रमण करते हुए लेखक अपने ज्ञान में कुछ और जोड़ रहा होता है, उसकी सूक्ष्म दृष्टि आकारों के भीतर छिपे हुए आकारों को भी खोजने की कोशिश करती रहती है, लगातार।

मनुष्य के जीवन में ऐसा समय भी आता है, जब वह भौतिक चीजों के मोह से मुक्त होने की स्थिति में पहुंचने लगता है, क्योंकि वे उसकी असुरक्षा की भावना को और गहरा करने लगती हैं। इस भावना से उपजता है डर, लेकिन मनुष्य लगातार डर में नहीं रहना चाहता, क्योंकि डर की यह भावना उसके उद्देश्य, अर्थ और पहचान को ही नहीं, उसके वजूद तक को दीमक की तरह चाटने लगती है। तब वह या तो ईश्वर का सहारा लेता है या खुद को किसी शून्य के समक्ष खड़ा पाता है। अपने अंत के आमने-सामने ऐसे वक्त में विवेक, पूर्वाभास, संवेदनशीलता और अंतःप्रेरणा से उपजती है आस्था और आस्था से ही उगती हैं उम्मीद की किरणें, जो मनुष्य को फिर से सही रास्ते पर लाकर जीवन को जीने योग्य बनाती हैं। जीवन से मुठभेड़ों के बीच पैदा होने वाली अपनी ऊर्जा को अंगीकार कर कर्म के माध्यम से तब मनुष्य अपना देय हासिल करता है। अगर हम किसी धातु या मिट्टी से बनी मूर्ति की पूजा करते हैं तो यह पूजा ईश्वर की होती है, मूर्ति की नहीं, क्योंकि मूर्ति तो माध्यम भर होती है। आराधक इस प्रतीक के माध्यम से अपने आराध्य का स्मरण करता है। उस स्थिति में व्यवस्था से कहीं अधिक सुकून देती है मनुष्य की आस्था। अगर आपने अपनी पहली कोशिश में ही आधा रास्ता तय कर लिया तो शेष आधा भी पूरा कर लेंगे, ऐसे विश्वास के साथ बुद्ध से जुड़े स्थलों के साथ अपनी जीवन यात्रा पर निकला है लेखक। यह आस्था अगर अगाध और अभेद्य हो तो उत्कंठा मनुष्य को अनअन्वेषित स्थलों की ओर धकलेती रहेगी, जीवन भर, निरंतर।

पंकज मिश्रा अपनी यात्रा किसी संदेह के साथ नहीं, आस्था के साथ ही शुरू करते हैं। संदेह के साथ शुरू हुई यात्रा मनुष्य को कहीं पहुंचाती नहीं है। यह किताब इस तथ्य को बखूबी पुष्ट करती है कि इसका सर्जक कहीं-न-कहीं पहुंचा और वहां पहुंचकर जीवन के अनेक रहस्यों से पर्दा उठा दिया। पंकज की इस किताब में गौतम बुद्ध किसी-न-किसी रूप में अंत तक मौजूद हैं, शायद इसीलिए वर्तमान से लेकर ऐतिहासिक, प्रागैतिहासिक और प्राचीनतम जीवन, दर्शन और इतिहास के बारे में बहुत कुछ इसमें बिखरा पड़ा है। बड़े मनोयोग से लिखी गई यह किताब अपने लेखक की न सिर्फ बौद्धिक क्षमता की गवाही देती है, प्रज्ञान के बीज और मूल के निकट के निकटतम जाने की उसकी गहन कामना और आग्रहशीलता का भी एहसास कराती है, क्योंकि लेखक अपने साथ-साथ, दुनिया के सामने भी इसे मूर्त्त करने का सपना देखता रहा लगता है। इस सपने को साकार करना हालांकि कठिन काम था, लेकिन पंकज ने इसमें काफी हद तक सफलता हासिल की है, वह भी विश्वसनीय और प्रामाणिक तरीके से।

अनिश्चितता जीवन का अभिन्न अंग है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण अधिकांशतः इन अनिश्चितताओं को भेदने में नाकामयाब रहता है। परिणामतः हमें अव्याख्येय का एहसास पाने और कराने के लिए आस्था की ओर मुड़ना पड़ता है। अक्सर हमें यह मान लेना होता है कि यही आस्था अनिश्चितताओं पर छाए कुहासे को भेदकर हमारा मार्ग प्रशस्त करेगी, जिस पर चलकर अंततः हमें अपनी यात्रा संपन्न करनी है। इसे हम महज इत्तेफाक नहीं कह सकते। यह घटित के बीच से ही खुद-ब-खुद ऊपर आता और हमारी आस्था को कुछ और गहरा कर जाता है।

समय की धूल की गाढ़ी पर्तों के नीचे बहुत कुछ दबा पड़ा है, उसे बाहर लाकर पंकज यह भी देखना चाहते हैं कि उसकी चमक किस हद तक बरकरार है, लेकिन यह जिज्ञासा दूरस्थ अतीत के प्रति सहज श्रद्धावश उपजा विश्वास भर नहीं है। पंकज ने समय-विगलित बीज में छिपे उस युग के सही चेहरे को विभिन्न स्रोतों से अर्जित ज्ञान के माध्यम से देखने की कोशिश की है ताकि वह अपने निष्कर्षों से हमारा मार्ग प्रशस्त कर सके और हमारे समय की कसौटी पर खरा भी उतर सके। लेखक जिन-जिन स्थानों पर गया, वहां के माहौल का सुस्पष्ट और उदासी से पगा विवरण एकदम सजीव रूप में उपस्थित किया है, लेकिन विचित्र बात यह है कि किताब की उदासी में लिपटी 'टोन' हमें किसी पराये या अजानेपन के धुंधलके में न धकेलकर सुखद एहसास से भर देती है। शायद ऐसे लोगों को भी, जो इस तरह के माहौल में व्याप्त रहस्यमय चुप्पियों के अभ्यस्त नहीं हैं, उन्हें भी पंकज की यह टोन पुरातन की भव्यता से 'हांट' करती रहती है।

ऊपरी तौर से देखने पर किताब यात्रा वृत्तांत भर लग सकती है, जिज्ञासा भरे यात्री की दृष्टि से, पर यह दृष्टिपात प्रकृति के रहस्यात्मक सौंदर्य और भव्यता से आह्लादित करता है, मन बहलाव के लिए एक उन्मत्तता, जिसे हम कुछ देर के लिए अपनी स्मृति में तारी होने देते है, लेकिन इसके ठीक विपरीत यह किताब पंकज की सूक्ष्म और गहरी दृष्टि की परिचायक भी है, जो निरभ्र नीले व्योम की सुगंध अपने भीतर महसूस करती है और जो पुराण और इतिहास के किसी एक कालखंड की मोहताज नहीं, लेकिन इस किताब का लेखक उत्साहित करने वाले जीवन के देशकाल संबंधी गुणों के पीछे भी जाता है। वह अपनी इस महाकाव्यात्मक यात्रा के द्वारा मूर्त्त इतिहास को जादुई यथार्थ के माध्यम से छानना चाहता है। सौंदर्य और उदासी के झीने आवरण में

लिपटे गौतम बुद्ध से जुड़े भू-भागों का अवलोकन करते हुए लेखक कभी-कभी खुद के ऐसे मूड में चला जाता है, जिसकी संगति उस स्थान से नहीं भी बैठती, लेकिन वह स्थान भी किसी शाखा पर बैठे उस पक्षी की तरह उसके मानस पटल पर आ विराजता है, जो शाखा पर बैठे-बैठे ज्ञात और अज्ञात पर मानों चिंतन-मनन कर रहा हो। तब लेखक उन स्थानों को भी अपने मूड में तारी रंगों से चित्रित करता है, लेकिन यह किसी समय अपनी भव्यता के लिए ख्यात स्थलों के भग्नावशेषों से होकर गुजरती यात्रा भर नहीं है, बल्कि जो कुछ हमारी चेतना को चुपचाप बदल रहा है, उसकी झलक देखकर उसका अनुभव प्राप्त करना है, जो इस बात की ओर भी इंगित कर रहा है कि हमारे जीवन में आध्यात्मिकता के पुट की अनिवार्यता का मतलब क्या है, अन्यथा जीवन भी कभी-कभी निरर्थक लगने लगता है, अगर हम इसे अपने वजूद के व्याख्येय पहलुओं के पार जाकर परिभाषित न कर पाएं। किताब को पढ़ते हुए लगता रहता है कि इस यात्रा में लेखक के साथ हम भी शामिल हैं, सहयात्री की तरह। आंख जो देखती और ग्रहण करती है और मस्तिष्क जिसे बुनता है, दोनों के बीच एक अनिवार्य दूरी किताब को रुचि-शून्यता से बचाते हुए लेखक द्वारा इसे डूबकर लिखने की पुष्टि करती है। यही गुण लेखक के कथ्य को व्यक्तिपरक अभिव्यक्ति से ऊपर उठाकर ऐसी सच्चाई में बदल देता है, जो सार्वभौमिकता के उसके दावे को पुष्ट करता है।

एक बार फिर से महात्मा बुद्ध के दर्शन के गहरे और शांत जल में डुबकी लगाने के कुछ ठोस कारण लेखक के पास जरूर रहे होंगे। उसे लगा होगा कि बुद्ध की शिक्षाएं अब भी अंधकार के इस युग को अपनी दीप्ति से आलोकित कर सकती हैं। हमें इसी नजरिये से लेखक के तर्क या विश्वास की रोशनी में इस किताब को पढ़ना चाहिए, बिना किसी पूर्वाग्रह के। लेखक के मन में इस किताब को लिखने का एक और कारण मृत्यु भय भी रहा हो सकता है। इस भय से कैसे मुक्त हुआ जाए, लेखक को शायद इसका जवाब भी चाहिए होगा। ठीक वैसे ही, जैसे बुद्ध ने इस सवाल का जवाब पाया और फिर दुख-तकलीफ और मृत्यु भय से भी मुक्ति पाई।

अनेक लोगों के लिए 'इतिहास' अंतहीन सिलसिले का दोहराव भर होता है, जो हमें कहीं नहीं ले जाता'। इसलिए विज्ञान सम्मत सोच से इतर के ज्यादातर लोग आस्था की प्रामाणिकता पर सिर खपाए बिना अपना जीवन जी रहे हैं। वैसे भी उनकी आस्था किसी भी तरह की तार्किकता के विरुद्ध नहीं है, क्योंकि उनके मन में भी इस तार्किकता की कोई-न-कोई परिभाषा अवश्य होती है, जो विज्ञान के पक्षधर लोगों की तार्किकता से मेल नहीं खाती। पंकज मिश्रा भी महात्मा बुद्ध की सीमाओं का उल्लेख करने से नहीं हिचकते। उनके अनुसार बुद्ध भी आंतरिक संसार के अनुभवों के विश्लेषण तक ही सीमित रहे होंगे। इससे तो यही संकेत मिलता है कि हम सचमुच दुखों के बोझ से मुक्ति चाहते हैं तो धर्म और विज्ञान के बीच कोई संतुलन ढूंढ़ना अनिवार्य है।

सिर्फ आंतरिक संसार में संतुलन की प्राप्ति से दुखों का अंत संभव नहीं, क्योंकि हर कोई महात्मा बुद्ध नहीं हो सकता। किताब में कहीं भी लेखक अपने नजरिये को पाठकों पर थोपने की कोशिश नहीं करता। उसका उद्देश्य अरसे से बंद खिड़की को खोलना भर है, अपने लिए और अपने बहाने औरों के लिए भी। वह अपनी दृष्टि को पाठक के साथ साझा करना चाहता है। वे उससे सहमत हों या असहमत, इस मंशा से तो कतई नहीं। यह चुनाव पाठकों पर ही छोड़ देता है। गौतम बुद्ध के दर्शन पर पंकज मिश्र किसी पेशेवर प्रचारक की तरह नहीं, बल्कि उसकी मौलिकता को आत्मसात करने के बाद बात करते हैं तो लगता है कि जैसे वह इस मौलिकता को पूरे सम्मान से अंगीकार कर रहे हैं। गौतम बुद्ध के बारे में आधिकारिक ढंग से बात करने और उनके बारे में अपनी सूक्ष्म दृष्टि को साझा करने के लिए लेखक का स्वयं बुद्ध होना जरूरी नहीं। हां, प्रामाणिकता पाने के लिए उसका बुद्धमय होना शायद जरूरी है। यह तो हर तरह के सृजन की पहली शर्त होती है कि आप जिस पर लिख रहे हैं, उसमें पूरी तरह डूब जाइए।

ज्ञात से परे की दुनिया के साथ पंकज मिश्रा की पहली मुठभेड़ होती है एकांत से। उस दुनिया की रहस्यमयी प्रतीकात्मकता को तरजीह देने का अर्थ है कि पंकज ने अपनी आस्था को टटोलना शुरू कर दिया है। प्रागैतिहासिक काल अक्सर मिथ, लीजेंड और स्पैकुलेशंस के माध्यम से हम तक पहुंचता है, जिसमें घटित का हमारे पास कोई ठोस प्रमाण नहीं होता। हमारे संस्कारों में विद्यमान आनुवंशिक आस्था ही बार-बार जीवन के प्रति हमारी उम्मीद को फिर-फिर जीवित करती रहती है, जबकि आधुनिकतम औजार भी प्रागैतिहासिक काल के रहस्यों को गहराई से मापने में नाकाम रहे हैं। इसी मुकाम पर आस्था हमारा हाथ थामती है। अगर इतिहास में हमारी आस्था बुरे वक्त में भी हमारी नैतिकता को बल प्रदान कर सकती है तो प्रागैतिहासिक प्रज्ञान में हमारी आस्था ऐसा क्यों नहीं कर सकती? प्रागैतिहासिक भग्नावशेषों से गुजरती हुई हमारे समय के संदर्भ में अन्वेषित होने की प्रतीक्षा करती पंकज की यह यात्रा धीरे-धीरे हमारी मानस यात्रा बनती चली जाती है। ऐसे मानस की यात्रा नहीं, जो सिर्फ सवाल उठाता है और फिर उनके कुहासे में कहीं खो सा जाता है, बीते समय की उन रहस्यमय सारगर्भित चुप्पियों से उत्पन्न सकते में से उबरने में नाकाम, बल्कि इसके लिए चाहिए ऐसा सूक्ष्मदर्शी मस्तिष्क, जो अपने हाथ में हल पकड़कर सच के बीज को धरती के गर्भ में से उत्खनित करने निकल पड़े। पंकज का 'मेन स्टे' यही लगता है। वह पूरी ईमानदारी से बीज रूप में विद्यमान सच को पुनर्व्याख्यायित और पुनर्परिभाषित करने की कोशिश करते हैं।

क्या दुख का अंत संभव है? अगर हम यह सवाल खुद से करते हैं, कुछ पल के लिए अपने प्रलोभनों से गदबदाती दुनिया से और दूसरी तरह से तमाम विघ्नों से खुद को अलग रखकर। उस स्थिति में संभव है कि हममें से शायद कुछ लोग इस रास्ते का अनुसरण करने का हौसला जुटा लें। दुःख इस जीवन का अभिन्न हिस्सा है, इसके बावजूद बुद्ध उस रास्ते पर गए और दुःख से मुक्त हो गए। यह एक ऐसी मनोदशा है, जिसे अपने अनुभवों के माध्यम से ही चरितार्थ किया जा सकता है, किसी का अनुसरण करने से नहीं।

एन एंड टू सफरिंग/पंकज मिश्रा/पिकाडोर इंडिया/www.picador.com/मूल्य : ₹ 475

सी-69, उपकार अपार्टमेंट, मयूर विहार, फेस-1, दिल्ली-110091, मो.—9810333933

लेखनी की प्रत्यंचा : व्यंग्य के प्रखर बाण

ममता कालिया

मेरी मेज़ पर यह नई-नकोर पुस्तक आई है : सामयिक बुक्स दिल्ली द्वारा प्रकाशित, सुशील सिद्धार्थ का व्यंग्य-संग्रह 'नारद की चिंता'। पिछले दिनों का पत्र-पत्रिकाओं का परिदृश्य ध्यान में आया, जब ये व्यंग्यलेख उनमें यत्र-तत्र-सर्वत्र छाए हुए थे। भारी-भरकम विचारों और ततैयाछाप विमर्शों से भरी रचनाएं, जब पाठक के पाचनतंत्र पर जुल्म ढाती हैं, तब सुशील के व्यंग्य आपातकालीन रोशनदान की तरह सामने खुलते हैं। हिंदी-साहित्य के प्रकांड पंडितों ने लंबे समय में साहित्य का ऐसा गरिष्ठ, वरिष्ठ रसायन तैयार किया है, जिसमें परिवर्तन लाने की सख्त ज़रूरत है।

व्यंग्य-लेखन आज विधा के रूप में स्थापित है, क्योंकि यह यथार्थ के अवलोकन के लिए हमारी तीसरी आंख खोलता है। व्यंग्य की यह सामर्थ्य, समय की जटिलताओं, कुटिलताओं व कुचक्रों की जकड़बंदी पकड़ने में काम आती है। इस लिहाज से सुशील सिद्धार्थ को वर्तमान समय में विषय भरपूर मिलते रहेंगे। उन्होंने अपनी व्यंग्यात्मक भूमिका में इस बात से इंकार किया है कि उन पर किसी अग्रज व्यंग्यकार का कभी प्रभाव पड़ा है, लेकिन पाठक इस बात को कैसे भूल जाए कि इन्हें पढ़ते हुए कभी हरिशंकर परसाई याद आ जाते हैं तो कभी श्रीलाल शुक्ल! हम यही कामना करते हैं कि बस इसी मानक पर सुशील सिद्धार्थ अपनी लेखनी की प्रत्यंचा कसे रहें। लेखक लंबे समय से संपादन जगत से भी संबद्ध रहे हैं, उसका परिचय इस संग्रह में भी मिलता है।

पुस्तक के आलेख अपने विषय और क्रम के चयन में बेहद सधे हुए हैं। संग्रह की भूमिका भी अपने आपमें एक रचना है। सुशील लिखते हैं, ''भारतीय संस्कृति के ग्लोबल गुरुओं ने सभ्यता के पत्रों को इस तरह फेंटा है कि आत्मबोध और आत्मश्लाघा में अंतर समाप्त हो गया है, इसलिए पूरी पवित्रता के साथ यह आत्मश्लाघा पाठकों को अर्पित है।' इस संकलन में कुछ व्यंग्य परिस्थितिजन्य विसंगतियां उजागर करते हैं, जैसे 'भूतपूर्व प्रेमिका से मुठभेड़', 'भले घर की लड़की', 'दोनों हाथों से लड्डू' आदि तो कुछ विशुद्ध साहित्यिक टिप्पण। 'नए को नापो' में सुशील ने विश्वविद्यालय के जड़मति आचार्यों पर कटाक्ष किया है। नामवरसिंह का नाम लेकर उन्होंने स्वस्थ-सार्थक आलोचना का विकल्प भी बताया है। यह पूरा लेख सुविज्ञ पाठ की मांग करता है, क्योंकि इसमें हिंदी की प्रसिद्ध रचनाओं, घटनाओं और चरित्रों के प्रतिबिंब हैं। आचार्य जड़मति कहते हैं, 'पत्रिकाओं के पृष्ठ पर फैली यश की अदृश्य घास चरने के लिए एक नई कथा-पीढ़ी तैयार हो गई है, बिना हमसे पूछे तैयार हो गई है। तैयार हो गई है संकल्प की तरह, जबकि तैयार होना चाहिए था तबले की तरह।' यह आलेख युवा लेखन के प्रति यथास्थितिवादियों का आक्रोश और उद्वेग सजग ढंग से स्पष्ट करता है, साथ ही यह भी कि सुशील सिद्धार्थ की सराहना और सहानुभूति किसके साथ है। आचार्य की भड़ास 'मैं तो नापूंगा, ऐसा नापूंगा कि 'नपनी' कहानी लिखने वाले दूधनाथ सिंह भी 'नमो अंधकारम्' का जाप करने लगेंगे।' बड़े व्यंजनात्मक तरीके से व्यक्त हुई है।

इतने सशक्त व्यंग्य-संग्रह को वास्तव में नारद जैसे प्रतीक की आवश्यकता नहीं पड़नी चाहिए थी, क्योंकि इसमें निहित व्यंग्य नारद-युग की फूहड़ता नहीं रखते। फिर हास्य व्यंग्य के क्षेत्र में नारद एक पुरातन पात्र हैं, गोपालप्रसाद व्यास 'नारदजी खबर लाए हैं' शीर्षक से अपना व्यंग्य आलेख लिखा करते थे, जो वर्षों चला। इसके दो ही कारण हो सकते हैं—बाजार का दबाव अथवा श्रीलाल शुक्ल के व्यंग्य-संग्रह 'अंगद का पांव' से प्रेरणा।

समग्रतः 'नारद की चिंता' एक पठनीय, संग्रहणीय पुस्तक है, जिसमें वर्तमान समय अपने सम-विषम रूप देख सकता है। पुस्तक का मुद्रण अत्यंत सुरुचिपूर्ण है।

नारद की चिंता/सुशील सिद्धार्थ/ सामयिक बुक्स, 3021-22, नेताजी सुभाष मार्ग, जटवाड़ा, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, मूल्य : ₹ 395

ए-73, लाजपतनगर, पार्ट-।।, नई दिल्ली-110024
मो. 9212741322

समीक्षा के निकष और निकष पर समीक्षा

शालिनी माथुर

डॉ. सुनीता गुप्ता की समीक्षा की पुस्तक **स्त्री चेतना के प्रस्थान बिंदु** में एक बहुत लंबे समय के महिला लेखन को एक फलक पर रखकर देखने का प्रयास किया गया है।

इस पुस्तक के 19 लेखों में लेखिका ने 14 लेखिकाओं के लेखन को समेटा है। उनके ही शब्दों में, ''यहां चेतना की ऊर्ध्वगामी यात्रा को उपन्यास विधा के माध्यम से आंकने का प्रयास किया गया है।'' इस विशाल फलक पर पहला हस्ताक्षर है मीरा बाई का। वे कहती हैं, ''आज स्त्री विमर्श के शिखर पर खड़े होकर जब अतीत की आहटों पर ध्यान जाता है, स्त्री की आवाज की पहली स्पष्ट दस्तक इसी स्वर लहरी में सुनाई देती है।'' सुनीता जी मीरा को विरह वेदना की कवयित्री नहीं बतातीं, वे उन्हें ऐसे व्यक्ति के रूप में चित्रित करती हैं, जिसने अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व रखने तथा अपने निर्णय लेने का साहस किया। मुस्लिम आक्रमणकारियों के आतंक, पर्दा प्रथा की कट्टरता तथा सती और जौहर के बीच, जहां स्त्री का सांस लेना दूभर था, वहां मीरा का संघर्ष कबीर, तुलसी के संघर्ष से कहीं कठिन रहा होगा, कि मध्यकाल में स्त्री होना ही बहुत बड़ा संघर्ष था। डा. सुनीता ने मीरा के पदों को उनकी डायरी के पन्ने बताते हुए उनमें लौकिकता देखी है। वे कृष्ण को मीरा का आराध्य ही नहीं, ऐच्छिक वर बताती हैं।

एक अज्ञात हिंदू स्त्री द्वारा लिखित सीमंतनी उपदेश, स्त्री विमर्श पर लिखी पहली हिंदी पुस्तक है। डॉ. सुनीता सुधार आंदोलन, राजा राम मोहनराय तथा ईश्वर चंद्र विद्यासागर के प्रयासों, बंकिम चंद्र के निबंध तथा आर्यसमाज के प्रसार के आलोक में पुस्तक को देखती है और पाती है कि सीमंतिनी उपदेश की लेखिका ने स्त्रियों की दुर्दशा, उन पर होने वाले जुल्मों, आभूषण प्रेम, चूड़ी, सुहाग, औलाद की ख्वाहिश, व्यभिचार, अनमेल विवाह जैसे विषयों पर विचार रखे हैं और विरोध किया है। ''क्या बगैर पसंद किए हुए शादी बिच्छू के जहर से कम दुःख देती है? जब तक खुद अपने ऊपर रहम न करोगी, मुमकिन नहीं हिंदस्तानी तुम पर रहम करें।'' एक सौ अट्ठाइस वर्ष पुरानी स्त्री विमर्श की यह प्रारंभिक पुस्तक अपने समय की चेतना से आगे बढ़कर एक सौ साल बाद की चेतना से जुड़ती है।

पुस्तक में संग्रहीत आलेखों में से बेहतरीन आलेख है महादेवी वर्मा पर लिखा निबंध, जो उनके गद्यकार रूप पर केंद्रित है। 'वे छायावादी, रहस्यवादी कवयित्री कहलाईं, परंतु उनकी कविताओं की प्रसिद्धि में उनका गद्यकार रूप छिपकर रह गया है। संस्कृत में कहते हैं—

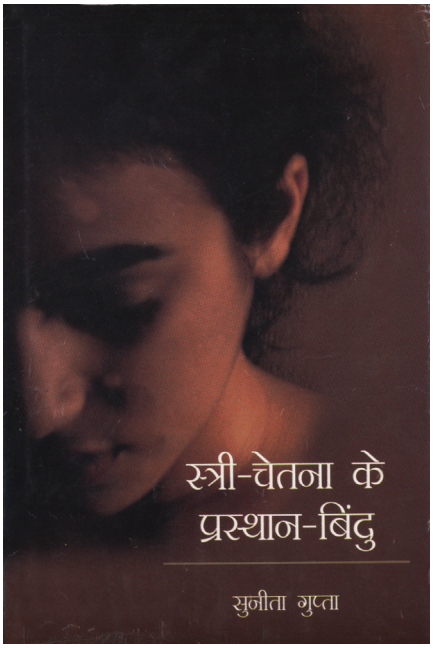

गद्यः कवीनाम् निकषः वदंति। मुझे स्मरण है कि राजेंद्र यादव ने अपने एक संपादकीय में लिखा था कि महादेवी वर्मा 'मधुर मधुर मेरे मेरे दीपक जल' जैसा कुछ गोल-गोल लिखती थीं, पर सच तो यह है जितनी सपाट बयानी, वैचारिक स्पष्टता, विद्रोह का स्वर, सामाजिक चेतना और पूरे प्राणि जगत को समदृष्टि में देखने की क्षमता हम महादेवी में देखते है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। डॉ. सुनीता चर्चा करती है कि जहां प्रेमचंद, प्रसाद, जैनेंद्र और अज्ञेय स्त्री में केवल प्रेम, श्रद्धा, त्याग और सहानुभूति ढूंढ़ते थे, वहीं महादेवी की प्रगतिशील दृष्टि स्त्री के त्याग व समर्पण में बलिपशु की निरीहता देख रही थी। आज से अस्सी वर्ष पूर्व वे लिख रही थी कि ''पुरुष स्त्री को सहयोगी का आदर न दे सका—इसी पत्नीत्व की अनिवार्यता से विद्रोह करके अनेक सुशिक्षित स्त्रियां गृहस्थ जीवन में प्रवेश नहीं करना चाहतीं, क्योंकि इन्हें भय है कि उनके सहयोगी उनके स्वतंत्र व्यक्तित्व को एक क्षण भी सहन न कर सकेंगे।'' (पृष्ठ 67) आज जब निरक्षर जनता भले ही अपनी 12-13 वर्ष की बच्चियों को ब्याह रही हो, पर पढ़ लिख कर अपने पांव पर खड़ी लड़कियों के विवाह की औसत आयु 20-22 वर्ष से बढ़कर 30-32 हो गई है। तब हम महादेवी वर्मा की इस बात में एक भविष्य दृष्टा का स्वर पहचान सकते हैं।

इस पुस्तक में प्रभा खेतान की रचनाओं पर चार आलेख संकलित हैं। इनमें उपनिवेश में स्त्री, बाजार के बीच बाजार के बीच : बाजार के खिलाफ, छिन्नमस्ता तथा अन्या से अनन्या तक पुस्तकें चर्चा के लिए उठाई गई हैं। डॉ. सुनीता रेखांकित करती हैं कि ''प्रभा खेतान, संस्कृतिवाद के छलकपट की विस्तार से चर्चा करती है और यह भी स्थापित करती

है कि 'पितृसत्तात्मक पूर्वाग्रह मार्क्स के विचारों में गहरे अंतर्निहित है''। स्त्री विमर्श को वे छोटे-छोटे अनुभव खंडों से बाहर निकालकर व्यापक सैद्धांतिक विमर्श के दायरे में लाती हैं।

सुधा अरोड़ा की 'आम औरत जिंदा सवाल' पर लिखे विस्तृत तथा विचारपूर्ण लेख में डॉ. सुनीता ने कथादेश में उनके द्वारा संपादित स्तंभ 'औरत की दुनिया' का भी उल्लेख किया है। ध्यान देने योग्य है कि डॉ. सुनीता की इस पुस्तक का प्रथम आलेख 'बिंदु', इसी स्तंभ में प्रकाशित हुआ था, जो कदाचित इस पुस्तक का सबसे मार्मिक हिस्सा है, जहां वे लिखती हैं, ''इन पंक्तियों को लिखते हुए मुझे अपनी मां की बहुत याद आ रही है।'' (पृष्ठ 9)

मृणाल पांडे की 'परिधि पर स्त्री' के विषय में सुनीता जी कहती हैं कि खेतों में काम करने वाली, असंगठित क्षेत्रों में जीवन संघर्ष के लिए जूझती, युद्ध की विभीषिका से ग्रस्त शरणार्थियों के रूप से रहती स्त्रियों पर बात करते हुए मृणाल नारीवाद को संकीर्ण परिधि से बाहर लाकर बहुसंख्यक आबादी से जोड़ती है। सुनीता जी कहती हैं कि क्षमा शर्मा की 'स्त्री का समय' तथा 'स्त्रीत्व विमर्श : समाज व साहित्य' पुस्तकों में जीवनगत अनुभव है, सैद्धांतिक चर्चा है और उम्मीद भी। सच ही है निराशा और अंधकार के इस समय में क्षमा शर्मा के लेखन में उम्मीद का स्वर तो हमें उनकी 8 मार्च, 2011 की टिप्पणी में भी सुनाई देता है। जहां सब लोग तुलसीदास को स्त्री विरोधी बताते हुए ढोर गंवार शूद्र पशु नारी वाली चौपाई को हथियार की तरह इस्तेमाल करते हैं, वही वे तुलसी की चौपाई ''पराधीन सपनेहुं सुख नाहीं'' को स्त्री के पक्ष में प्रस्तुत करती हैं। वे वास्तव में उम्मीद की लेखिका हैं।

प्रतिष्ठित लेखिका कृष्णा सोबती की डार से बिछुड़ी, मित्रो मरजानी, सूरजमुखी अंधेरे के और जिंदगीनामा पर चर्चा करते हुए डॉ. सुनीता उन्हें सशक्त पात्रों की सृष्टा बताती है। मृदुला गर्ग की चित्तकोबरा और कठगुलाब पर चर्चा करते समय सुनीता जी कहती हैं कि उन्मुक्त शृंगार के चित्रण का सूत्रपात तो कृष्णा सोबती 1958 से ही अपने लेखन में कर चुकी थी और यह भी कि स्त्री

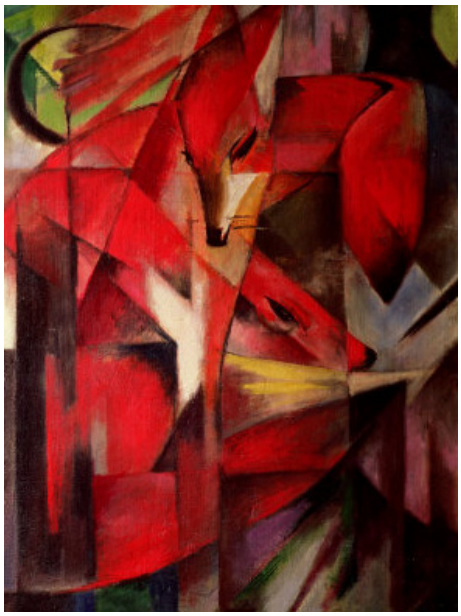

लेखन को किसी निर्दिष्ट सीमा में नहीं बांधा जा सकता। चित्रा मुद्गल की 'एक जमीन अपनी' पर टिप्पणी करते समय लेखिका उनके विस्तृत फलक और सामाजिक कार्यों की चर्चा करती हैं।

मीरा की अस्मिता की तलाश, अज्ञात हिंदू स्त्री का परिस्थितियों से विद्रोह, महादेवी के गद्य की वैचारिकता, मृणाल पांडे की आधुनिक समझ, मृदुला गर्ग की बेबाकी, सुधा अरोड़ा के सामाजिक सरोकार, कृष्णा सोबती का साहस, कुसुम अंसल की अभिव्यक्ति की छटपटाहट, चित्रा मुद्गल की समसामयिकता, मन्नू भंडारी की सरलता सहजता और प्रभा खेतान का विस्तृत फलक, डॉ. सुनीता की निगाह से कुछ भी नहीं बचा। उनमें लेखिकाओं का मंतव्य समझकर, रचनाओं के मुख्य बिंदुओं को रेखांकित करने की अपार क्षमता है। इस प्रकार वे एक कुशल प्राध्यापिका के रूप में सामने आती हैं, जिसके व्याख्यानों के आधार पर लोगों के हृदय में साहित्य पढ़ने की इच्छा जाग्रत होगी।

अब कुछ सवाल।

मन्नू भंडारी की 'एक कहानी यह भी' पर सुनीता जी कहती हैं—अपनी मूल प्रवृत्ति में यह कृति संस्मरण के अधिक निकट है—आत्मकथा के कम। आत्मकथा को रचनात्मक जगत तक सीमित रखने को मानो आत्मकथा की सीमा बताया गया है। सुनीता जी ने कुसुम अंसल की आत्मकथा 'जो कहा नहीं गया' को भी एक अंतर्यात्रा बताया है। वे राजेंद्र यादव को उद्धृत करती हैं ''हिंदी साहित्य में आधी आबादी का अंतरंग अभी तक अदृश्य ही है।'' (पृ. 43)

आत्मकथा से आखिर क्या उम्मीद की जाती है? पुरुषों द्वारा अधिकृत साहित्य जगत् अकस्मात् स्त्रियों की आत्मकथा की ओर इतनी हसरतभरी निगाहों से क्यों देखने लगा? क्या यह सच नहीं कि स्वयं को प्रगतिशील बताकर स्त्रियों को अपने जगत् में जगह देने का नाटक करने वाला यह समूह अंतरंग के नाम पर स्त्री से उसकी 'मनोहर कहानियां' और 'सत्यकथा' सुनने की उम्मीद कर रहा है, क्योंकि वह आज भी स्त्री की भूमिका को केवल शयनकक्ष तक सीमित देखता है। पुरुष की भांति स्त्री के जीवन को भी उसकी समग्रता में देखा जाना चाहिए, यही नारीवादी स्वप्न है। काश! सुनीता जी तनिक और गहराई से सोचतीं।

वे कहती हैं, ''इक्कीसवीं सदी के आठवें वर्ष के पायदान पर से यह देखना कितना आश्चर्यजनक लगता है कि महज तेरह-चौदह वर्ष पहले ही तो स्त्री ने अपनी बात कहनी शुरू की है। यह 1994 का वर्ष था, जब हंस का स्त्री-उत्तरकथा विशेषांक प्रकाशित हुआ था।'' (पृ. 15) इस विशेषांक का जिक्र लेखिका ने अनेक बार किया है। यही डॉ. सुनीता मीराबाई (सन् 1516), एक अज्ञात हिंदू स्त्री (सन् 1882), महादेवी वर्मा की शृंखला की कड़ियां (सन् 1942), और कृष्णा सोबती (सन् 1958) को स्त्री अस्मिता, स्त्री स्वतंत्रता और सशक्त पात्रों की सर्जना की पुरोधा के रूप में स्थापित करती हैं। सन् 2008 और सन् 1516 के बीच केवल तेरह-चौदह साल का अंतर है या सदियों का?

यह देखना रुचिकर है कि एक-दो को छोड़कर सारे आलेख जिन श्रेष्ठ लेखिकाओं को लेकर लिखे गए हैं, उनकी रचनाएं सत्तर वाले दशक से ही धर्मयुग, साप्ताहिक हिंदुस्तान, सारिका जैसी लोकप्रिय पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं और उन्हें किसी विशेष समूह ने प्रमोट नहीं किया था। कृष्णा सोबती, मन्नू भंडारी, मृदुला गर्ग, सुधा अरोड़ा, चित्रा मुद्गल, मृणाल पांडे आदि ऐसे ही नाम हैं। उनकी रचनाओं में, उनके समयों में चल रहे आंदोलनों और बदलवों की झलक भी दिखाई देती है और घर तथा बाहर की दोहरी जिम्मेदारियां

निभाती पुरानी और नई मूल्य मान्यताओं की दुविधा से जूझती स्त्री की तस्वीर भी।

डॉ. सुनीता प्रख्यात आलोचक प्रो. शंभुनाथ को उद्धृत करती हैं, ''इतना निम्न दर्जे का स्त्री विमर्श हिंदी में हो रहा है। यदि कुछ आशाजनक है तो वह स्त्रीवादी विमर्श नहीं, स्त्री साहित्य है।'' सच तो यह है कि हिंदी के अधिकांश पाठक इस बात से पूर्णतः सहमत हैं। 1994 से स्त्री विमर्श के नाम पर एक खेल जरूर शुरू हुआ होगा, जो किसी खास विचारधारा से प्रेरित होता, तब भी गनीमत थी, यह खेल तो प्रकाशन समूहों और संपादकों के इशारों पर होने वाली राजनीति का हिस्सा है, साहित्य का नहीं। ईमानदार स्त्री दृष्टि, जो मीरा से प्रारंभ होकर महादेवी के हाथों अगली पीढ़ी के सुपुर्द हुई, वह एक स्वाभाविक धारा है, किसी गिरोह द्वारा प्रमोटेड अभियान नहीं।

इसी प्रकार एक विभ्रम डॉ. सुनीता के आलेख 'विशेष' में दिखाई देता है। बानगी प्रस्तुत हैं, ''स्त्री विमर्श को अपनी पत्रिका हंस के माध्यम से युगानुरूप नवीन उभार देने में राजेंद्र यादव की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। हंस के अप्रैल अंक में उनके संपादकीय पर आई कुछ प्रतिक्रियाएं तो इस तर्ज में थी कि यदि आप एक गाली दे सकते हैं तो हम चार। यदि नारीवादी चिंतक राजेंद्र यादव के हस्तक्षेप को अनधिकृत मानती हैं तो उन्हें तरजीह क्यों देती हैं? इसी अनुच्छेद में वह आगे कहती हैं, ''संपादकीय के माध्यम से परखा जा सकता है कि कहीं यह स्त्री को देह के स्तर तक सीमित रखने की पुरुष की चाल तो नहीं है? कार्यालय में बैठे-बैठे स्त्री मुक्ति को देखने का एक बुजुर्ग पुरुष का प्रयास आखिर जा ही कितनी दूर सकता है।'' हम देख सकते हैं कि डॉ. सुनीता जहां उन नारीवादी चिंतकों की भर्त्सना करती हैं, जिन्होंने हंस के संपादक के मर्दवादी स्त्री विमर्श की आलोचना की, वहीं वे स्वयं न प्रशंसा कर पाई, न स्पष्ट रूप से आलोचना। वैचारिक स्पष्टता और अपने विचारों पर दृढ़ रूप से खड़े रहने का साहस एक समीक्षक का निकष होता है।

इसी आलेख में मन्नू भंडारी और प्रभा खेतान की आत्मकथाओं की चर्चा करते समय वे मीता तथा मिसेज सर्राफ को 'दोनों की खलनायिकाएं' बताती हैं। यह विभ्रम की चरम सीमा है। आत्मकथाओं के आधार पर मीता एक प्रेमिका थी, जिसके प्रेमी ने किसी और से विवाह कर लिया। इसी प्रकार मिसेज सर्राफ किसी की पत्नी थी, जिसके पति ने उसके रहते एक अन्य अविवाहित स्त्री से प्रेम प्रसंग चलाया। दोनों ही प्रकरणों में एक को धोखे में रखा गया तथा दूसरी को धोखा खाने का अहसास बाद में हुआ। चारों औरतों में से कोई भी खलनायिका नहीं, कि खलनायिका तो छल करने वाली औरत को कहते हैं, छली जाने वाली को नहीं।

आत्मकथाओं के आधार पर वे मैत्रेयी पुष्पा के संघर्ष को मन्नू भंडारी और प्रभा खेतान के संघर्ष से श्रेष्ठ बताती हैं। कैसे? वे अभय कुमार दुबे को उद्धृत करती हैं। ''प्रभा खेतान के पास बगावत की किताब थी। मन्नू जी के पास बगावत की किताब नहीं थी, बगावत का साहस था, मैत्रेयी पुष्पा के पास न बगावत की किताब थी, न बगावत का साहस, इसलिए इनकी बगावत किताबी किस्म की नहीं हो सकती थी। वह धीमी आंच पर खदबदाती जिंदगी की तरह पकती रही।''

ऐसे वाक्यों का अर्थ क्या है? बगावत की किताब कौन-सी होती है? अकेले दम पर पढ़ना-लिखना, पैसा कमाना, घर चलाना, व्यवसाय स्थापित करना, देशविदेश में व्यापार करना, मन्नू भंडारी और प्रभा खेतान का जीवन संघर्ष किताबी किस्म की बगावत माना जाएगा? डॉ. सुनीता गुप्ता एक विदुषी महिला हैं, उन्होंने इस प्रकार के कलावादी किस्म के ऊटपटांग वाक्य उद्धृत करना क्यों जरूरी समझा? अपने पति के साथ पत्नी धर्म निभाते हुए, उनके कमाए धन, सुख-सुविधाओं का लाभ उठाते हुए, उनकी सहायता से अपने लेखकीय जीवन को प्रमोट करते हुए, बीच-बीच में अन्य डॉक्टरों-संपादकों से गहरा प्रेम और मित्रता निभाना कौन-सा संघर्ष है? यह काम तो वे सारे स्त्री-पुरुष करते हैं, जिनमें न अपने दम पर खड़े होने की योग्यता है, न साहस। साधारण भाषा में ऐसी हरकतों को छल-कपट करना कहते हैं न कि खदबदाना। यूं भी मैत्रेयी पुष्पा तो प्रभा खेतान तथा मन्नू भंडारी की परवर्ती लेखिका हैं, मेरी जिज्ञासा है कि पूर्ववर्ती स्त्रियों की बगावत की किताब उन्हें उपलब्ध क्यों नहीं हो पाई?

पुस्तक के फ्लैप पर लिखा है कि ''स्त्री विमर्श को ठोस आधार देने में डॉ. सुनीता की पुस्तक जिस प्रस्थान को तलाशती है, वह कितना सम्यक् और सर्वांगपूर्ण है, प्रश्न यह नहीं है, अपितु यह कितना जोखिम भरा कार्य है—लेखिका ने खम ठोककर जोखिम उठाया है।'' पुस्तक तथा इसकी लेखिका के प्रति आदर एवं प्रशंसा भाव रखते हुए मैं कहना चाहूंगी कि लेखिका ने सम्यक् और सर्वांगपूर्ण चिंतन तो किया है, पर जोखिम तनिक भी नहीं उठाया। सारी लेखिकाओं तथा लेखकों के परस्पर बिल्कुल विपरीत विचारों से वे सहमत हो जाती हैं। पुस्तक के अंत तक हम जान ही नहीं पाते कि उनके विचार क्या हैं। इस दृष्टि से देखें तो उन्होंने रचनाओं की व्याख्या की है, समीक्षा नहीं।

इतनी बुद्धिमती, परिश्रमी तथा अध्यवसायी लेखिका के पास विवेचना की दृष्टि का अभाव है, यह मानना असंभव है। अभाव है तो मात्र साहस का। गुटबाजी और मठवाद से त्रस्त हिंदी जगत् में डॉ. सुनीता यदि भीरुतापूर्वक हर एक को प्रसन्न रखने का मोह छोड़ पातीं तो उनकी यह श्रेष्ठ पुस्तक आलोचना की सर्वश्रेष्ठ पुस्तकों में गिनी जाती।

स्त्री-चेतना के प्रस्थान बिंदु/सुनीता गुप्ता/प्रकाशन संस्थान, 4268-बी/3, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/मूल्य : ₹ 400

ए 5/6, कॉरपोरेशन फ्लैट्स, निराला नगर, लखनऊ-226020

अचला शर्मा की कहानी 'चौथी ऋतु' का अंतर्पाठ

साधना अग्रवाल

अचला शर्मा आठवें दशक की चर्चित लेखिका रही हैं, लेकिन बीबीसी से जुड़ने के बाद वे लेखन में अधिक सक्रिय नहीं रहीं। बेशक वे रेडियो नाटक या छिटपुट कविताएं लिखती रहीं। इधर बीबीसी से अलग होने के बाद उन्होंने अपने लेखक को पुनर्जीवित किया है। 'चौथी ऋतु' अचला शर्मा की बहुत पुरानी कहानी है, जो उनके संग्रह 'सूखा हुआ समुद्र' में संकलित है, लेकिन विडंबना की बात यह है कि उनसे एक संकलन के लिए जब उनकी प्रिय कहानी की मांग की गई तो उक्त संग्रह उनको नहीं मिला। बेशक पुराने कागजों में दबा कहानी का हाथ से लिखा हुआ पहला ड्राफ्ट मिला, जिसका उन्होंने पुनर्लेखन किया। चूंकि अब कहानी की मूल प्रति उपलब्ध नहीं है, इसलिए कहानी के इसी पाठ को केंद्र में रखकर इस पर विचार किया जा सकता है। खुद अचला शर्मा 'चौथी ऋतु' को अपनी प्रिय कहानी मानने के पीछे जो तर्क देती हैं, वह सहज विश्वसनीय भी है और जीवन के एक शाश्वत सच से हमारा साक्षात्कार भी कराती है। वे लिखती हैं, 'असल में 'चौथी ऋतु' अपने लिखे जाने से लेकर आज तक, हर साल यह एहसास कराती रही है कि क्रिसमस के महीने को झेलने के लिए जरूरी है कि आप जवान और तंदुरुस्त हों, आपका बड़ा-सा परिवार हो या बहुत सारे दोस्त हों, ताकि आप त्योहार की रौनक और उपहारों की खरीददारी को लेकर उत्साहित महसूस कर सकें अन्यथा क्रिसमस और उसके पहले का समय, किसी को भी घोर अवसाद में डुबो सकता है। मेरे लंदन प्रवास के आरम्भिक दौर में एक अंग्रेज दंपती, जो मेरे मित्र थे, क्रिसमस के मौके पर मेरा खास खयाल रखते रहे। अपने मां-बाप, भाई-बहन के साथ मुझे भी अपने घर आमंत्रित करते। चूंकि 25 दिसंबर को लंदन में सार्वजनिक परिवहन व्यवस्था भी बंद रहती है, इसलिए मुझे घर से ले जाने और वापस पहुंचाने का भी इंतजाम होता। मैं इस देश में नई थी और अकेली थी। किसी गरीब या अकेले इंसान को थोड़ी सी खुशी देना क्रिसमस की भावना के अनुकूल है। इसलिए क्रिसमस की छुट्टियां आते ही अचानक अखबार, रेडियो, टेलीविजन सभी समाज के उन वर्गों की बात करने लगते हैं जो आमतौर पर चर्चा का विषय नहीं बनते—अनाथ, बेघर और बुजुर्ग।'

दरअसल 'चौथी ऋतु' बुजुर्गों की कहानी है यानी जीवन के चौथे पड़ाव की। यहां एक बात ध्यान में रखने की है कि भारत और लंदन के रहन-सहन, जीवन-मूल्यों और नैतिकता के मानदंड़ों में बड़ा फर्क है, यहां तक कि धार्मिक विश्वासों में भी। चूंकि भारत में न केवल अलग-अलग जातियां हैं, बल्कि धर्म और संप्रदाय भी अनेक हैं, रीति-रिवाज उपर से, लेकिन लंदन में प्रवासी लोगों को छोड़कर वहां की मूल जनसंख्या मुख्यतः क्रिश्चयन है और उनका सबसे बड़ा त्योहार क्रिसमस है, जिसमें लोग खुलकर मिलते हैं, लेकिन एक दिक्कत है वहां के लोग बुढ़ापे में अकेले हो जाते हैं और एकाकी जीवन जीने को अभिशप्त होते हैं। अचला शर्मा वहां के जीवन के बारे में लिखती हैं, 'मुझे यह देखकर अच्छा ही लगता है कि यहां के बुजुर्ग जब तक संभव हो अपना जीवन अपने तरीके से, गरिमा के साथ जीते हैं। बच्चों से ज्यादा अपेक्षाएं नहीं करते। वैसे भी ज्यादातर बच्चे अट्ठारह वर्ष के होते-होते अपनी आत्मनिर्भरता की तलाश शुरू कर देते हैं। बीस साल पहले यहां के एशियाई परिवारों में यह चलन नहीं था, लेकिन दो दशकों में उनके बच्चों की एक और पीढ़ी जवान हो गई है। यह पीढ़ी यहीं जन्मी है। वैसे भी एकल परिवार की परिभाषा बदल रही है। एकल परिवार की तस्वीर में अब मां-बाप के साथ बच्चे तभी तक दिखाई देते हैं, जब तक वे स्कूली शिक्षा प्राप्त करते हैं। यह एक वास्तविकता है, सही-गलत की बहस नहीं। वास्तविकता यह भी है कि ज्यादातर विकसित देशों में वृद्धों की संख्या में इजाफा हुआ है। यहां ब्रिटेन में सन् 2001 की जनगणना के आधार पर 60 मिलियन की आबादी में सरकारी पेंशन पाने वाले लोगों की संख्या 2006 में 11 मिलियन से अधिक हो गई थी, जो 2031 तक 15 मिलियन से भी उपर पहुंच जाएगी। बेहतर खाना-पीना और बेहतर चिकित्सा सुविधाएं, औसत आयु में वृद्धि के मुख्य कारण बताए जाते हैं, लेकिन साथ ही इस बीच पारिवारिक बिखराव और बढ़ा है। जीवनयापन के साधन और महंगे हो गए हैं। बुजुर्गों को मिलने वाली सरकारी सुविधाएं भी कुछ कम हुई हैं, क्योंकि सुविधाओं के हकदार ज्यादा हो गए हैं। और बूढ़े लोगों की तन्हाई का कोई इलाज सामने नहीं आया।'

'चौथी ऋतु' कहानी का आरंभ 71 वर्षीय लिंडा के वर्तमान, जिसके सामने क्रिसमस आने वाला है और अतीत की स्मृतियों से होता है। एक तरफ फायर प्लेस के ऊपर सजे क्रिसमस कार्ड हैं तो दूसरी तरफ टाइम्स की सुर्खी पर 30 साल बाद लंदन में भारी बर्फबारी की खबर। जीवन और प्रकृति के दो विपरीत छोर हैं—एक वृद्धावस्था और अकेलापन और दूसरी तरफ क्रिसमस का पर्व। लिंडा के पति जार्ज को गुजरे 10 साल हो चुके हैं।

लिंडा की नजर दीवार पर टंगी जार्ज की तस्वीर की ओर गई तो मन में एक उलाहना-सा उठा। 'बुढ़ापा काटने की बारी आई तो अकेला छोड़ गए।' यानी तेजी से सरकते समय को वह देखती है। 10 साल से नितांत अकेली लिंडा विचारों में खो जाती है। उसकी बेटी मार्गेरेट साल में एकाध बार जरूर उससे मिलने आ जाती है, लेकिन कुछ दिनों के लिए। उसको समय ठहरा-सा लगता है। एक बार उसने अपनी बेटी के कहने पर किरायेदार के रूप में एक लड़की मैरिएन को रखा भी। चूंकि वह चित्रकार थी और अपने कमरे में बंद रहती थी। लिंडा ने एक बार पूछा भी उससे, ''तुम्हें सारा दिन अकेले घबराहट नहीं होती?'' जवाब में उस लड़की ने कहा,''आप भी तो अकेली रहती हैं।'' लेकिन इन दोनों के अकेलपन में एक बड़ा फर्क है। चित्रकार होने के कारण लड़की के लिए अकेलेपन का कोई अर्थ नहीं है, जबकि बूढ़ी लिंडा के लिए अकेलेपन का एक अर्थ है। वैसे मैरिएन की यह बात गौर करने लायक है कि 'व्यक्ति अकेला बुढ़ापे के साथ ही नहीं होता मिसेज स्मिथ'।

अकेली और बूढ़ी लिंडा जीवन का अर्थ भी जानती है और बुढ़ापे का अर्थ भी, क्योंकि उसमें अब भी भरपूर जिजीविषा है इसलिए इस बार क्रिसमस पर उसने आसपास के लोगों को अपने घर पर आने के लिए आमंत्रित किया और शालीन भाषा में कार्ड पर लिखा, 'अगर आप भी मेरी तरह अकेले और बूढ़े हैं तो क्रिसमस की यह शाम मेरे साथ मेरे घर पर बिताइए।' फिर भी भीतर-भीतर कहीं उसे इस बात का डर था कि कहीं कोई इसे भद्दा मजाक न समझ ले। ठीक क्रिसमस की रात उसकी नजर छोटे से क्रिसमस ट्री पर गई और वह फिर अतीत में खो गई। इसी बीच दरवाजे पर दस्तक हुई। दरवाजा खोलने पर सामने पीटर थे। मेरी क्रिसमस का आदान-प्रदान हुआ। पीटर के बाद मिस्टर लॉरेंस और रोज मैरी आते हैं और वे चारों कुछ देर के लिए ही सही, अपना अकेलापन भूलकर क्रिसमस का आनंद उठाते हैं और अपने सुख-दुख बांटते हैं। पीटर ने इस बार क्रिसमस के अवसर पर अपने बेटे डेविड के लिए बागवानी की किताब, बहू के लिए ऊनी मोजे और पोते के लिए वीडियो गेम खरीदा था, लेकिन जब बेटे ने उन्हें सूचना दी कि इस बार वे लोग नहीं आ पाएंगे तो पीटर को बहुत बुरा लगा था, क्योंकि वे इन सब खर्चों के कारण अपने लिए ओवरकोट नहीं खरीद पाए थे। उनकी दिनचर्या थी— सुबह घूमने जाना, दोपहर को लाइब्रेरी और शाम को पब। रिटायर होने के बाद वह दिनभर पाइप नहीं पीते और दिनभर इस पहले कश का इंतजार करते। वह ब्रिटेन में पेंशनर को मिलने वाली सहूलियतों के बारे में बताते हैं, 'अब जिस दिन बहुत बेसब्र होता हूं तो बस में सवार होकर बेमतलब शहर के चक्कर लगाता हूं। भई पेंशनर होने का एक फायदा तो है कि मुफ्त में लंदन दर्शन करो।'

कहानी की एक और स्त्री पात्र रोज मैरी है जो अकेली और बूढ़ी होने के बावजूद आत्मनिर्भर है, क्योंकि वह किसी पर बोझ नहीं बनना चाहती। रोज मैरी जैसे लोग लंदन में खूब देखे जा सकते हैं। अचला शर्मा लिखती हैं, 'एक दिन ट्रैफिक लाइट पर एक बूढ़ी महिला को देखा। हाथ में शॉपिंग ट्राली थी। कमर इतनी झुकी हुई कि लगे सजदे में झुकी है। बाएं हाथ से ट्राली खींचते हुए, दाहिने हाथ से लाठी टेकते हुए सड़क पार करने की कोशिश कर रही थी। दोनों तरफ कारें रुकी हुई थीं। लाल बत्ती हरी हो चुकी थी। कारों में बैठे लोगों की बेताबी का अंदाजा बिना हॉर्न की आवाज आए भी लगाया जा सकता था। मैंने आगे बढ़कर उनकी बांह थामी। सोचा सड़क पार करा दूं, लेकिन वृद्धा ने मेरा हाथ झटक दिया। बोलीं, 'नो थैंक यू, आई कैन मैनेज।' बेशक उन्होंने मैनेज कर लिया। भले ही सड़क पार करने के बाद एक बैंच पर सुस्ताने के लिए पांच मिनट बैठी रहीं। मेरे लिए उनका संदेश था, 'मैं आत्मनिर्भर हूं।' यह आत्मनिर्भरता है या अकेले होने का अभिशाप, इसका फैसला मेरे हाथ में न तब था, न आज है।' बिल्कुल सही कहा है अचला शर्मा ने कि यह आत्मनिर्भरता है या अकेले होने का अभिशाप।

कहानी का तीसरा पात्र है मिस्टर लॉरेंस, जो वाइन को गले के नीचे उतारते अपनी जिन्दगी के पिछले पन्नों को पलटने लगते हैं, 'पता नहीं मुझमें ऐसी क्या कमी थी कि 20 साल साथ रहने के बाद मेरी बीवी ने मुझसे तलाक लेकर किसी और से शादी कर ली।' उन्हें दुख है कि उनके बच्चों ने भी अपनी मां की तरह उनसे नाता तोड़ दिया। वह लिंडा के शुक्रगुजार हैं कि इस बार क्रिसमस पर उन्होंने अपने घर उन जैसे बूढ़े लोगों को आमंत्रित किया। लॉरेंस बताते हैं कि पड़ोस में रहने वाली मिसेज बुड की मौत का गवाह कोई नहीं था, सिवाय एक बिल्ली के, जिसे सुनकर सब डर जाते हैं और उन चारों के भीतर एक सन्नाटा पसर जाता है, क्योंकि मौत की खबर का असर शायद मौत से भी ज्यादा दहशत भरा होता है। तभी लिंडा सन्नाटे को तोड़ते हुए उन्हें यह एहसास कराती है कि आज हम लोग क्रिसमस मनाने के लिए इकट्ठे हुए हैं, मातमपुर्सी के लिए नहीं, लेकिन एक डर तो उन सबमें है ही, जिसे झुठलाया नहीं जा सकता।

लिंडा के पति जब जीवित थे तो वे दोनों संगीत प्रेमी हुआ करते थे, लेकिन पति की मृत्यु ने उन्हें इतना अकेला कर दिया था कि अब संगीत में भी उनकी कोई रुचि नहीं रही। उनके पति एक बार विवाल्डी का 'फोर सीजन्स' रिकॉर्ड्स लाए थे, उसे भी लिंडा अब कभी नहीं सुनती। बस भीतर ही कहीं, बजता रहता है। फोर सीजन्स-चार ऋतुएं। जार्ज कहते, मनुष्य का जीवन भी चार ऋतुओं में बंटा है।' लिंडा सोचती है कि शीत के बाद तो बसंत आता है, लेकिन वृद्धावस्था के बाद? क्योंकि जीवन की यह चौथी ऋतु तो मृत्यु का प्रतीक है। जीवन का शीत है। उसके बाद बसंत तो नहीं लौटता, पर नहीं, शायद लौटता है—नन्ही कोंपलों के रूप में.. .किसी नवजात शिशु की गुलाबी मुट्ठियों के रूप में।'

इस तरह क्रिसमस की रात में इन चार बूढ़ों का मिलना और कुछ घंटे जिन्दगी के अतीत और वर्तमान की मौज-मस्ती से साक्षात्कार उनकी जिजीविषा को न सिर्फ दर्शाता है, बल्कि जीवन की चौथी ऋतु में भी जीवन के प्रति गहरी आस्था और विश्वास जगाता है। यह सुखद संयोग है कि क्रिसमस की रात में चौथी ऋतु के प्रतीक ये चार बूढ़े क्रिसमस का जश्न मना रहे हैं अपने बुढ़ापे और अकेलेपन को भूलकर। हिंदी के कई प्रतिष्ठित साहित्यकारों ने वृद्धावस्था, अकेलेपन और मृत्यु को केंद्र में रखकर कई उत्कृष्ट

कहानियां और उपन्यास लिखे हैं। उषा प्रियंवदा की 'वापसी' कहानी का पात्र गदाधर बाबू नौकरी से अवकाश ग्रहण करने के बाद वृद्धावस्था में अकेलापन काटने के लिए फिर से नौकरी करने के लिए अभिशप्त है। कृष्णा सोबती का उपन्यास 'समय सरगम' उम्र के आखिरी पड़ाव यानी वृद्धावस्था के जिस नीरव, एकांत और अकेलपन की सीढ़ियों पर चुपचाप कदम रखता है, उसका भी अपना एक राग है। इसी तरह निर्मल वर्मा का उपन्यास 'अंतिम अरण्य' में भी बुढ़ापे का अकेलापन बार-बार मृत्यु के द्वार पर दस्तक देता है, बल्कि उनकी कहानी 'कव्वे और काला पानी' में भी बुढ़ापे और अकेलेपन का दंश है।

इधर हिंदी के अधिकांश आलोचक जिस तरह हिंदी कहानियों का पुनर्पाठ या अंतर्पाठ करते हैं, उसमें 'रीडिंग' के नाम पर ज्यादा 'मिस रीडिंग' होती है, क्योंकि अपनी बौद्धिकता के आतंक में वे कहानी के टेक्स्ट को प्रायः ओझल करते हैं, जबकि कहानी के अंतर्पाठ में कहानी की विषयवस्तु (कंटेंट) के साथ संवेदनशीलता को भी प्रस्तुत किया जाना चाहिए। कहानी का असली सौंदर्यशास्त्र यही है। और 'अंतर्पाठ' से मेरा अभीष्ट भी यही है। यथार्थ के आतंक से भरसक बचने की कोशिश।

अचला शर्मा की इस कहानी की एक बड़ी विशेषता सहज, सरल और स्वाभाविक भाषा और विदेशी परिवेश में चौथी ऋतु में क्रिसमस के मौके पर 'बूढ़े का उत्सव' है। जो न केवल हार्दिकता, बल्कि आत्मीयता की गरमाहट से सराबोर है। जहां तक भारतीय परिवेश की बात है, यहां बुढ़ापे में लोग परिवार पर बोझ बन जाते हैं और अपमान और भर्त्सना के बीच जिंदगी जीने के लिए अभिशप्त होते हैं। अचला शर्मा की यह कहानी एक यादगार कहानी है, जो अब उन्हीं की प्रिय कहानी नहीं है, बल्कि पाठकों की भी प्रिय कहानी साबित होगी। इस कहानी में कई अंतर्ध्वनियां हैं टेक्स्ट के भीतर और कंटेस्ट के बाहर।

4-सी ऊना एन्क्लेव, मयूर विहार फेज-1, दिल्ली-110091, फोन-9891349058

प्रतिध्वनि

पत्र-प्रतिक्रिया

●

पुस्तक-वार्ता का नया अंक-34 (मई-जून, 2011) इस मायने में चकित करता है कि उसमें संपादकीय में पंडित चंद्रधर शर्मा गुलेरी के संस्मरण (बाबू अयोध्याप्रसाद पर लिखे गए संस्मरण) हैं। इस लिहाज से आपने अपने वक्तों के दो बड़े अदीबों को जो मुस्तकिल और बा-वकार स्थान दिया है, उससे पत्रिका को गरिमा प्राप्त हुई है।

ऐसे नए प्रयोग कमलेश्वर भी किया करते थे। यकीनन, ऐसे प्रयोगों के लिए शऊर, समझ, संवेदना के अतिरिक्त साहस की भी जरूरत होती है और वो आपमें है।

लीला सेठ की किताब—'घर और अदालत' पर साधना अग्रवाल ने समीक्षा लिखी है। किताब का शीर्षक बेहतर सीधा-सरल है, लेकिन इस आत्मकथा में उतरो तो एक नई दुनिया का पता चलता है। इस किताब को जिस सलाहियत और जज्बे के साथ परखने की दरकार थी, साधना अग्रवाल ने उसी तपाके के साथ समीक्षा लिखी है। इस किताब में सादगी और सच्चाई जैसे तत्त्वों को समीक्षक ने शिद्दत के साथ महसूस किया है और समीक्षा को बड़ी आंतरिकता से लिखा है। लीला सेठ ने सच पर झूठ के वर्क नहीं चढ़ाए, न खोखला बड़बोलापन दिखाया। सादगी और सच का बयान इस किताब का आकर्षण है। यह किताब एक ऐसा 'पाठ' है, जो हिंदी के आत्मकथा लिखने वाले लेखक/लेखिकाओं के लिए किसी पाठशाला की तरह है।

—ज्ञानप्रकाश विवेक
बहादुरगढ़ (हरियाणा)

●

'पुस्तक-वार्ता' (मई-जून, 2011) प्राप्त हुई। अंक में पं. चंद्रधर शर्मा गुलेरी का संस्मरण 'बाबू अयोध्या प्रसाद के स्मरण' काफी रोचक है। उच्च न्यायालय की पहली मुख्य न्यायाधीश लीला सेठ की आत्मकथा 'ऑन बैलेंस' के हिंदी अनुवाद 'घर और अदालत' की साधना अग्रवाल द्वारा की गई समीक्षा ने पुस्तक पढ़ने की उत्सुकता पैदा कर दी है। सुखद है कि साधना जी ने अपने विचार, अपना दर्शन न थोपकर लीला जी की संघर्षगाथा पर फोकस किया है। इसी प्रकार ज्योतिष जोशी द्वारा समीक्षित और यतींद्र मिश्र द्वारा लिखित पुस्तक 'सुर की बारादरी' (शहनाई वादक बिस्मिल्ला खां पर एकाग्र) ने भी आकर्षित किया।

अनंत विजय द्वारा समीक्षित जोसेफ लेलीवेल्ड की पुस्तक 'ग्रेट सोल : महात्मा गांधी एंड हिज स्ट ्रगल विद इंडिया', सुभाष शर्मा द्वारा समीक्षित पुस्तक 'आसमान का समकालीन' (कवि सुदीप बैनर्जी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर केंद्रित, संपादक चंद्रकांत देवताले) ने भी आकर्षित किया।

—दामोदर दत्त दीक्षित, लखनऊ

●

पुस्तक-वार्ता (जनवरी-फरवरी, 2011) में नौटंकी की मलिका : 'गुलाबबाई' पुस्तक पर सुभाष शर्मा की समीक्षा पढ़ी। इस रोचक और विस्तृत समीक्षा को पढ़कर पुस्तक को पढ़ने की तीव्र इच्छा है।

1950-54 के वर्षों में मेरे बचपन के वर्ष भिंड-मुरैना के ग्रामीण इलाके में बीते हैं और वहां गांवों में स्थानीय नौटंकी-दलों की प्रस्तुतियों की क्षीण-सी स्मृति मन में है। इस वजह से भी पुस्तक की कथावस्तु में रुचि हुई।

'भरतपुर लुट गया'—वाला दादरा भी एक फिल्म में इस्तेमाल हुआ है, जिसमें सोनाली बेंद्रे ने नृत्य किया था। शाहरुख खान उस फिल्म के नायक थे।

इस विश्लेषण-परक और वस्तुनिष्ठ समीक्षा के लिए आपको बधाई। मुझे विश्वास है, समीक्षा के माध्यम से मेरे जैसे अनेक पाठक इस पुस्तक से परिचय प्राप्त करेंगे।

—**महेश दुबे**, नवीं मुंबई

●

'पुस्तक-वार्ता' का हर अंक पढ़ता हूं। बनारस में यह उपलब्ध है। समकालीन सृजन और प्रकाशन के बारे में इससे सम्यक जानकारियां प्राप्त हो रही हैं। हर पुस्तक तक हर पाठक की पहुंच संभव नहीं है। इसलिए बहुपठित, सुधी सृजनधर्मी समालोचकों द्वारा पुस्तक समीक्षाएं बहुत काम की हैं। वे पुस्तक के प्रति जिज्ञासा जगाती हैं और उन्हें पूर्ण रूप से पढ़ने के लिए प्रेरित भी करती हैं। चयन की दृष्टि से एक पाठक या अध्येता के लिए यह सब बहुत सुविधाजनक है। किताबों के प्रति दीवानगी और उनकी क्रांतिकारी भूमिका को लेकर 'जुलाई-अगस्त', 2010 अंक में प्रकाशित राजेंद्र यादव और नोबेल पुरस्कार विजेता तुर्की के लेखक ओरहान पामुक के संस्मरण लेख इस अंक को संग्रहणीय बनाते हैं।

—**केशव शरण**
वाराणसी

●

'पुस्तक-वार्ता' का जनवरी-फरवरी अंक मिला। इसमें समीक्षाओं के अतिरिक्त 2010 की कृतियों के चयन की सूची उपयोगी है।

भारतेंदु युग से लेकर बीसवीं शती की महत्त्वपूर्ण पुस्तकों की सूची की प्रतीक्षा रहेगी।

—**वेदप्रकाश अमिताभ**, अलीगढ़

●

'पुस्तक-वार्ता'-34 में चंद्रधर गुलेरी का 'बाबू अयोध्या प्रसाद पर संस्मरण' दुर्लभ है, जो इस अंक की उपलब्धि भी है।

—**विवेक सत्यांशु**
इलाहाबाद

●

पुस्तक-वार्ता के अंक क्रमांक-32 में रामचंद्र गुहा संपादित पुस्तक 'मेकर्स ऑफ मॉडर्न इंडिया' की समीक्षा करते हुए अनंत विजयजी ने कुछ भारतीय नेताओं और समाज सुधारकों के नाम गिनाए हैं, जो वास्तव में मेकर्स ऑफ इंडिया हैं, लेकिन रामचंद्र गुहा ने उनके साथ न्याय नहीं किया है।

मेरे विचार में गोपाल गणेश आगरकर और डॉ. बाबा साहेब अंबेडकर भी मेकर्स ऑफ इंडिया कैटेगरी में आते हैं। उनका उल्लेख होना आवश्यक था।

—**शांताराम मंजुरे**, मुंबई

●

इस बार आपका पत्र कूरियर की डाक में आसानी से प्राप्त हुआ और मई-जून, 'पुस्तक-वार्ता' का 34वां अंक भी।

अंक काफी पढ़ भी गया। खूब अच्छी सामग्री संजोई है। विवादास्पद चर्चा भी पूरे प्रखर रूप में विस्तार से स्थान पाती है, यह आपका विशेष प्रशंसनीय कदम है।

एक बात मुझे ठीक नहीं लगी। जो लेख आपने संपादकीय का स्थानापन्न बनाया है, वह नहीं करना था। गुलेरी जी का आलेख आप अंक में कहीं भी दे सकते थे। संपादकीय संपादकीय होता है। उसे कृपया संपादकीय ही रहने दें। विषयों की आपको कमी नहीं। उसमें भी यथाशक्य आत्मकथ्य से बचें, पुस्तक संसार के समसामयिक परिदृश्य पर वस्तुगत वैचारिक चिंतन चाहे जितना दें, स्वागत है।

—**शिवरतन थानवी**
जोधपुर

●

'पुस्तक वार्ता' का मार्च-अप्रैल, 2011 अंक यथासमय प्राप्त हुआ, धन्यवाद। यह अंक मुझे कई कारणों से अच्छा और संग्रहणीय लगा। इसमें भुवनेश्वर पर आपका संपादकीय, कई उपन्यासों पर आलेख, मोहनकृष्ण बोहरा की कहानी, कविता-पुस्तकों की समीक्षाएं तथा अन्य समीक्षात्मक और विवेचनात्मक लेख, कुबेरदत्त और भारत यायावर के क्रमशः भीमसेन जोशी और भुवनेश्वर पर आलेख खासतौर पर पसंद आए। अजय वर्मा के नागेश्वर लाल संबंधी लेख में कई असंगत बातें और तथ्यात्मक भूलें हैं। वैसे लेख भी सामान्य है। उनके वैयक्तिक जीवन-प्रसंगों की अपेक्षा रचनात्मक प्रसंगों पर बातें ज्यादा होनी चाहिए थीं। नागेश्वर जी आरा टाउन स्कूल के छात्र थे, जबकि लेख में जिला स्कूल का बताया गया है। नागेश्वर जी ने मुक्तिबोध की कहानियों पर एक अच्छा लेख लिखा था, जो 'हंस' में छपा था, इसलिए यह कहना भी ठीक नहीं है कि वे मुक्तिबोध को पसंद नहीं करते थे। वे लोहियावादी थे, न कि दक्षिणपंथी। उन्होंने 'हल्दीघाटी' पर एक विवेचनात्मक पुस्तक भी लिखी थी, जिसका जिक्र लेख में नहीं है। शेष बाद में। मैंने चन्द्रभूषण तिवारी की फोटो अलग से भेज दी थी, जिसके प्राप्त होने की सूचना आप रायपुर से लौटने के बाद देने वाले थे। इंतजार कर रहा हूं।

रामनिहाल गुंजन
नया शीतल टोला, आरा-802301 (बिहार)